मचेता कबीर

डॉ० सरोज बिसारिया

संकल्प प्रकाशन
2, पुराना बैरहना, इलाहाबाद
दूरभाष : 604635

प्रकाशक : संकल्प प्रकाशन
२४२, पुराना बैरहना, इलाहाबाद
दूरभाष : ६०४६३५.

वितरक एवं विपणन : आरण्यक प्रकाशन
2/90, एम. आई. जी.
आवास विकास कॉलोनी योजना-३
झूंसी, इलाहाबाद
दूरभाष : 667330

I.S.B.N.No 81-87147-14-8

प्रकाशन वर्ष : 2002

मूल्य : 125/ रु० (एक सौ पच्चीस रुपये मात्र)
65/ रु०(पैंसठ रुपये मात्र) छात्र संस्करण

संस्करण : प्रथम

आवरण संयोजन : [illegible]

मुद्रक : सौरभ सहाय
माधो प्रिन्टर्स
२४२, पुराना बैरहना, इलाहाबाद-३

By Dr Saroj Bisarya

कबीरी व्यक्तित्व के धनी
स्वर्गीय पति श्री जगदीश सहाय बिसारिया की
पावन स्मृति में सादर
अर्पित है यह शब्दस्तबक

श्रद्धावनत

लेखिका

प्रकाशकीय

मनुष्य को शिवं का पथ दिखाने के लिए मानवता को धर्म के रूप में स्थापित करने के लिए ऋषियों और मनीषियों को युगपुरुष बनकर अवतरित होना पड़ता है। आज की सामाजिक परिस्थिति राजनीति से अनुप्रेरित होकर मानवता के राजपथ से भटक कर जाति धर्म, वर्ण, सत्ता स्वार्थपरता जैसी न जाने कितनी संकीर्ण वीथिकाओं में भटक गई है। पशुता और दानवीयता का क्रूर नृशंस आचरण गली चौराहों का जीवन बन गया है। मनुष्य और मनुष्य के बीच न जाने कितनी विभाजक रेखाएं खिंच गई हैं। घर, परिवार, समाज, साहित्य, धर्म राजनीति जिधर दृष्टि उठाइए खेमें ही खेमें दिखाई देंगे। गहनता से देखे तो आज से छः सौ वर्ष पूर्व लोक नायक कबीर के समय जैसी सामाजिक धार्मिक परिस्थिति थी उससे कहीं अधिक विकृत परिस्थितियाँ आज हैं, साम्प्रादायिक प्रवृत्तियो का उलझाव और भी भयानक हो गया है। एक एक पल चीख कर पुकार रहा है कबीर तुम कहाँ हो? देखो तो जिस पूर्ण मनुष्य की रचना के लिए तुमने पत्थर की चोट सही, जजीर मे बंधे, गंगा में डुबाए गए आज फिर वह संवेदना विहीन हो कर पाशविक हिंसा में डूबा हुआ है। मानवता अर्थहीन शब्द बन कर रह गई है।

कबीर! जब तक हाथ में जलती लुकाठी ले कर मनुष्य मात्र को समता और ममता के, एक रूपता के सूत्र में गूँथने के लिए तुम नहीं आते तब तक तुम्हारी वाणी को जन मन तक पहुँचाने का दायित्व हमारा है, हम प्रकाशकों का है। वाणी में व्यक्तित्व निहित होता है, तुम्हारी वाणी आज भी उतनी ही जीवन्त है, उतनी ही प्रभावोत्पादक है, उतनी ही विप्लवकारी है जितनी चौदहवीं शताब्दी में थी तभी तो शिक्षित अशिक्षित सभी के कण्ठ मे विराजमान है। लोकमानस का उद्‌बोधन करने वाली तुम्हारी 'बानियां'' लोकोक्ति बन गई हैं।

शब्द नाद हैं और नाद ब्रह्म, आज हमारा प्रयास है कबीर के ब्रह्मरूप शब्दों से जन-जन को आन्दोलित करना उनके व्यक्तित्व और कृतित्व से सभी को परिचित कराना मानवता का अजेय संदेश मनुष्य मात्र तक पहुँचाना।

डॉ० सरोज बिसारिया द्वारा लिखित ''सर्वात्मचेता कबीर'' पुस्तक का प्रकाशन इस दिशा में उठा हुआ पहला चरण है। हमारा प्रकाशन इसके पूर्व भी डॉ० बिसारिया द्वारा लिखित अनेक साहित्यिक, आलोचनात्मक, कथा साहित्य परक कृतियाँ पूरी गरिमा के साथ सुधि पाठकों को अर्पित कर चुका है। पाठकों द्वारा पुस्तकों का न केवल स्वागत हुआ है प्रत्युत उन्हें भरपूर सम्मान और प्रशंसा मिली है। हमें विश्वास है कि डा० सरोज बिसारिया की यह नवीनतम साहित्यिक कृति ''सर्वात्मचेता कबीर'' आलोचना के क्षेत्र में अभिनव मूल्यों की स्थापना कर पूर्ण साहित्यिक भव्यता के साथ पाठकों का ध्यान आकर्षित करेगी। पाठकों की स्वीकृति में ही प्रकाशन की सार्थकता है और सृजन का अभिनन्दन।

सौरभ सहाय

शुभानुशंसा

भारतीय संत परंपरा में कबीर संत शिरोमणि कहे जाते हैं। पूरी संत परंपरा में उनका विशिष्ट स्थान है। उनके जीवन का हर पहलू जीवंत एवं अनेक विशिष्टता लिये हुए है। इसलिए उन्हें वैष्णव, वेदांती, योगी, आर्यसमाजी, सुधारवादी सभी अपना मानते हैं। प्रगतिशील विचारक एवं व्यंग्य लेखक उन्हें अपना मूल आचार्य मानते हैं। उनके समय से ही उनकी वाणियां लोगों को रिझाती रही, खिझाती रही तथा अपने गिरेबां में झांककर अपनी गल्तियों, कुरीतियों एवं रूढ़ियों को दूर करने के लिए उत्प्रेरित करती रही हैं।

समाज का बाह्य रूप बदलने तथा लोगों के जीवन स्तर में बड़ा परिवर्तन होने के बाद भी कुछ ऐसी समस्याएं जो संत कबीर के समय में थीं, आज भी बनी हुई हैं। बल्कि कुछ समस्याओं ने तो ऐसा विकराल रूप धारण कर लिया है जिनका शीघ्र ही निराकरण नहीं किया तो उसका भीषण दुष्परिणाम पूरे मानव समाज को भुगतना होगा। काल्पनिक जाति पांति को लेकर अहं-हीनत्व की भावना तथा सांप्रदायिक कटुता तो अपनी जगह है ही, स्वार्थपरता तथा भोग परायणता के कारण आज मनुष्य मनुष्य का शोषण ही नहीं कर रहा है अपितु वह दूसरों की लाशों पर अपना भव्य-भवन बनाना चाह रहा है।

अब पूरा समाज अनेक वर्गों एवं खेमों में बंटता जा रहा है, मनुष्य-मनुष्य के दिल की दूरियां बढ़ती जा रही हैं, एक अनदेखी खाई अधिक गहरी और चौड़ी होती जा रही है, सभी मानवता एवं सत्य प्रेमियों को यह अहसास हो रहा है कि कबीर ही एक ऐसे मिलन बिन्दु हैं जहां सब एकत्र हो सकते हैं और एक दूसरे से सच्चे अर्थों में मिल सकते हैं। जिसका भौतिक स्वार्थ जितना घटेगा वह उतना ही दूसरों को आत्मसात कर सकेगा और अपना प्यार दे सकेगा। चूंकि कबीर ने अपने भौतिक स्वार्थ को पहले ही त्याग दिया था, अपने हाथों अपना घर फूंक चुके थे और बाजार में आकर खड़े हो गये थे, इसलिए सभी उनके अपने हो गये थे और उन्होंने सबका हित जिसमें देखा वही बातें कहीं।

डॉ० सरोज बिसारिया की कृति 'सर्वात्मचेता कबीर' इसी दिशा में एक सार्थक कदम

है। विदुषी लेखिका ने कबीर साहब के उन विचारों पर अपनी दृष्टि केन्द्रित की है जो सबके लिए ग्राह्य हो सकते हैं। किसी भी विषय में मतभेद हो सकता है, मतभेद स्वाभाविक है, अस्वाभाविक यदि है तो अपने ही मत को एकान्तिक सत्य मान लेना। सारी कटुता यहीं पैदा होती है और शुरू होता है आदमी का भटकाव जिसका कहीं अंत नहीं होता। प्रस्तुत कृति में विदुषी लेखिका ने किसी मतवाद में पड़े बिना सहज ढंग से कबीर-वाणी के आधार पर कबीर-विचारों को ही अपने शब्दों में निरूपित किया है। आशा है डॉ० सरोज विसारिया की इस नवीन कृति 'सर्वात्मचेता कबीर' के अध्ययन-मनन से पाठकों को नई दृष्टि मिलेगी और वे कबीर-विचारों की तरफ अग्रसर हो सकेंगे। साथ ही अग्रसर हो सकेंगे एक ऐसे मानव-मंदिर के निर्माण की ओर जहां विशुद्ध मानवता की पूजा हो सकेगी। डॉ० सरोज विसारिया के प्रति हमारी शुभकामनाएं है कि वे अधिक से अधिक साहित्य सृजन कर मानवता एवं सत्य का संदेश दें तथा समाज-सेवा की ओर अग्रसर होती रहें।

कबीर आश्रम
कबीर नगर
इलाहाबाद

धर्मेन्द्रदास

अनुक्रमणिका

आविर्भाव

भावफलक, जन्म सम्बन्धी किंवदन्तियाँ, अन्तः साक्ष्य, बहिर्साक्ष्य, एतिहासिक विकास क्रमगत परिस्थितियाँ, राजनैतिक, सामाजिक, धार्मिक साहित्यिक, प्रभाव प्रतिक्रिया, व्यक्तित्व रचना, कृतित्व,

विचार और अनुभूति की उत्ताल तरंगे जब ज्वार बन कर मनः सागर का मंथन करने लगती है तब जन्म होता है एक सन्त कवि का। चतुर्दिक फैले हुए परिवेश का प्रभाव, प्रतिक्रिया और विचार मन का भावुक स्पन्दन बन जाता है। विचार का उत्स है ज्ञान और भावुकता का उद्गम है अनुभूति। विचार और अनुभूति के ताने बाने से जिस साहित्य की चादर बुनी जाती है वह साहित्य अपने व्यापकत्व में कालजयी हो जाता है। मानवता के जल में घुले धर्म दर्शन, संस्कृति और कला के रंग युगों के अन्तराल को पार कर भी ज्यों के त्यों बने रहते हैं। ऐसे साहित्य का शब्द शब्द कवि मनीषी की कीर्ति को तो कालजयी बनाता ही है दिग्भ्रमित मानवता को दिशा निर्देश भी करता है। दर्पण बन कर मनुष्य को आत्मावलोकन की क्षमता प्रदान करता है। हिन्दी साहित्य का एक ऐसा ही अप्रतिम संत साहित्यकार है कबीर जिसने दर्पण ही नहीं दृष्टि भी दी। दृष्टि और दर्पण की अर्थवत्ता के लिए एक उदाहरण ही पर्याप्त है। कबीर के निम्न दोहे की प्रथम पंक्ति–

''माला फेरत जुग भया गया न मन का फेर'' वस्तुतः जन मन का दर्पण है वहीं इसी दोहे की दूसरी पंक्ति *''कर का मनका डार दे मन का मन का फेर''* जन जन को दी हुई दृष्टि है। दृष्टि के अभाव में दर्पण का कोई महत्व नहीं। तभी तो कबीर की ***''साखी आँखी ज्ञान''*** की है।

जन्म-मृत्यु –कबीर की अवतारणा का काल मतभेद के बीच भी ''कबीर चरित्र बोध'' के प्रकाश में सं. १४५५ ज्येष्ठ पूर्णिमा को ही माना गया है। डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी, डॉ० माता प्रसाद गुप्त और किसी सीमा तक श्यामसुन्दर दास और आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और अन्य भी इसी तिथि से सहमत हैं। संत पीपा ने अवश्य संवत १४८२ का उल्लेख कबीर की जन्मतिथि के रूप में किया है।

हिन्दी के साहित्यकारा न कबीर की जन्मतिथि की प्रामाणिकता उपलब्ध न होने के कारण पर्याप्त मंथन के उपरान्त सहमति का पथ ही पकड़ा है, अनुमान को मान्यता दे दी है। कबीरदास के शिष्य धर्मदास द्वारा लिखित पद की पंक्तियाँ विचारणीय है

चौदह सौ पचपन साल गए चन्द्रवार इक ठाठ ठए

जेठ सुदी बरसायत को पूरनमासी तिथि प्रकट भए।

पत्रागत ऐतिहासिक मंथन के उपरान्त यह तथ्य हाथ आए कि सं० १४५५ में पूर्णिमा चन्द्रवार को नहीं थी अतः 'साल गए' शब्द को आधार बना कर सं० १४५६ का समय सर्वमत से नहीं तो बहुमत से साहित्य वेत्ताओं ने स्वीकृत कर लिया। कबीर की जीवनी लिखने वाले लेखक सं० १४५६ के ज्येष्ठ मास की पूर्णिमा को ही जन्म तिथि के रूप में प्रस्तुत करते हैं। विदेशी इतिहासकार डा० हंटर और रेवरेन्ड वेस्टकाट जनश्रुति के सहारे क्रमशः स० १४३७ तथा सं० १४९७ को कबीर की जन्मतिथि के रूप में अपनी कृतियों में निरूपित करते हैं। अनुमान पर कोई प्रतिबन्ध नही है, प्रश्न है प्रामाणिकता का अतः कबीर के शिष्य धर्मदास की पंक्ति को अंतः साक्ष्य की मान्यता दे कर साहित्य के विद्यार्थियों की सुविधा के लिए एक तिथि पर सहमत हो जाना ही उचित है। सन्त अपने विषय में अधिकांशतः मौन रहे हैं फलतः जीवन की भाँति मृत्यु की तिथि में भी मतैक्य नहीं है। डाक्टर फ्यूरे के दिए ऐतिहासिक विवरण के आधार पर कबीर की मृत्युतिथि १५०५ निश्चित होती है अब यदि जन्म तिथि और मृत्युतिथि को सामने रख आयु निश्चित करें तो कबीर साहब की आयु मात्र ४९ वर्ष की ही सिद्ध होती है जो कहीं से भी संगत नहीं है। अनन्तदास की 'कबीर परचई' में सिकन्दर लोदी और कबीर की समकालीनता वर्णित है। ऐतिहासिक अध्ययन से भी इसी मत की संपुष्टि होती है। गुरूनानक देव से कबीर की भेंट हुई थी ऐसा भी विचारकों का मत है। गुरू ग्रन्थ साहब में कबीर की कितनी साखियाँ और सबद समाहित हैं कुछ कहा नहीं जा सकता किन्तु "ग्रन्थ साहब" के सबदो पर कबीर का प्रभाव स्पष्टतः लक्षित होता है। सत्य तो यह है कि अनुमान की तरगों पर झूलते रहने से किनारा दूर ही होता जाएगा अतः अन्तः साक्ष्य का यदि सूत्र पकड़ें तो कबीर के परलोक गमन के सम्बन्ध में दो तिथियाँ मिलती हैं -

संवत पन्द्रह सौ और पाँच सौ मगहर कियो गमन।

अगहन सुदी एकादसी मिले पवन में पवन।।

इस दोहे के अनुसार कबीर साहब का देहावसान सं० १५०५ में सिद्ध होता है किन्तु दूसरे दोहे के अनुसार -

संवत पन्द्रह सो पछत्तारा कियो मगहर को गौन
माघ सुदी एकादसी रलौ पौन में पौन।।

इसके अनुसार सवत १५७५ कबीर के निर्वाण का वर्ष ठहरता है। जहाँ तक मृत्यु के स्थान का प्रश्न है मगहर को सभी ने निर्विवाद रूप से स्वीकृत किया है रही तिथि की बात तो एक बार फिर सहमत हो जाने की पद्धति को अंगीकार कर सं १५७५ का निर्वाण तिथि मान लेने में ही अनावश्यक उलझाव से मुक्ति संभव है। इस प्रकार कबीर साहब का जन्म सं १४५६ मृत्यु १५७५ और आयु ११९ वर्ष निश्चित होती है। कबीर ने प्राण त्याग के लिए मगहर को चुना और काशी छोड़ कर मगहर गए। सामान्यत: लोग मृत्यु का वरण करने काशी जाते हैं क्यों कि मान्यता है कि "काशी मरण्याम् मुक्ति:" तुलसी ने भी लिखा है "कासी मुकुति हेतु उपदेसू" काशी में प्राण त्यागने वाले को सहज ही मुक्ति मिलती है। कबीर जैसे क्रान्तिदर्शी सन्त के लिए "काशी धाम की मुक्ति" चुनोती वन गई। जिसने आजीवन एकनिष्ठ भाव से अपने निर्गुण राम का ध्यान नमन और साधना की हो वह इस परम्परावादी मुक्ति का वरण क्या करे ? कबीर मगहर गमन के सम्बन्ध में अपना मत रखते हुए कहते हैं

लोका मति के भोरा,
जौ कासी तन तजै कबीरा तौ रामहिं कौन निहोरा।।
तब हम वैसे अब हम ऐसे इहै जनम का लाहा।।
ज्यू जल में जल पैसि न निकसे यों ढ़रि मिला जुलाहा।।
राम भगति पर जाकौ हित चित ताकौ अचिरज काहा।।
गुरू प्रसाद साध की संगति जरा जीते जाइ जुलाहा।।
कहै कबीर सुनहु रे संतो भ्रमि परे जन कोई।।
जस कासी तस मगहर ऊसर हिरदै राम संत होई।।

कबीर की आत्म शक्ति और रूढ़ि मुक्त जीवन पद्धति इस पद से स्वतः स्पष्ट हो जाती है। निधन के लिए मगहर का चयन उनके व्यक्तित्व के अनुरूप था

कबीर जैसे मनीषियों की जन्म और मृत्यु की तिथि महत्वपूर्ण नहीं है। महत्वपूर्ण है कबीर का अनुपम अवदान जो केवल युगीन परिस्थिति और परिवेश की झंझा के बीच ही निष्कम्प दीप सा प्रकाश ही नहीं लुटाता रहा है प्रत्युत्त आज भी मानवता का प्रकाश स्तम्भ बना खड़ा है।

कबीर आत्मचेता ही नहीं सर्वात्मचेता भी थे। मनीषी का आत्म चेता स्वरूप आत्ममुक्ति का पथ प्रशस्त करता है किन्तु सर्वात्मचेता रूप आत्मानुभव के आधार पर

जन जन को सामाजिक विकृतियों के अन्धकार से निकाल कर चैतन्य आलोक के दर्शन कराता है। कबीर की यही चेष्टा उनकी भक्ति साधना की काव्यात्मक अभिव्यक्ति को बहुआयामी बना देती है, किसी के लिए वह भक्त है, तो किसी के लिए संत, कोई समाज सुधारक की संज्ञा देता है तो कोई धर्म प्रचारक के रूप में देखता है। निर्गुण और सगुण, अद्वैतवाद, हठयोग, एकेश्वरवाद आदि का भ्रमजाल भी कबीर को लेकर खूब बुना गया है। वस्तुतः सामाजिक धरातल पर कबीर ने मनुष्य के जीवन को उसकी समग्रता मे देखा हैं, आत्मा और परमात्मा के प्रकाश में उन्होंने मानवीय संचेतना का पूर्णता से अनुभव किया है, जहाँ जाति, धर्म देश और काल से परे मानवता की अविछिन्न धारा प्रवाहित होती है, ***''खालिक खलक खलक में खालिक, सब जग रहयो समाय''*** उनकी इसी अभेदित मानवीय संचेतना की संवाहक पंक्ति है।

व्यक्ति का निरपेक्ष मूल्य होते हुए भी व्यक्तित्व रचना में परिवेश के योगदान को नकारा नहीं जा सकता। परिवेश शब्द व्यापक है, पारिवारिक, राजनैतिक, सामाजिक, धार्मिक, साहित्यिक सभी परिस्थितिया इसके अन्तर्गत आ जाती हैं। ***''सतन को कहा सीकरी सो काम''*** कहना सरल है पर परिवेश से तटस्थ रहना कठिन है नही तो ***म्लेच्छन भार दुःखित मेदिनी*** की वेदना भक्तों की वाणी में मुखरित नहीं होती। कबीर तो सर्वात्मचेता संत थे, सत्य दर्शी ही नहीं सत्यवक्ता भी थे फलतः सत्य की कटुता उनकी वाणियों में मुखरित हुई है। ***''जौ बाम्हन तू बम्हनी जायो, आन राह द्वै काहे न आयो''*** में सत्य की वही कटुता है जो मनुष्य और मनुष्य के बीच में अन्तर समाप्त करने वाला सत्यदर्शी चिढ़ कर बोल सकता है।

निःसन्तान दम्पत्ति नीमा और नीरू जुलाहे की सर्वमान्य कथा की पुनरावृत्ति कर कबीर के जन्म की पारिवारिक परिस्थिति का उल्लेख पिष्टपेषण से अधिक नहीं है। फिर भी संगति की दृष्टि से प्रचलित कथाओं का संक्षिप्त उल्लेख समीचीन है। इस सन्दर्भ में कबीर की स्वयं की उक्ति है

''काशी में हम प्रकट भए रामानन्द चेताए
समरथ को परवाना ले कर हंस उबारन आए''

प्रथम पंक्ति मे प्रयुक्त तीन शब्द ''काशी'' ''प्रगट'' ''रामानन्द'' विशेष विचारणीय है। कबीर का जन्म स्थान काशी है इसमें तो कोई विवाद नहीं है किन्तु 'प्रगट' शब्द विशेष व्यंजक है यदि कबीर कहते कि काशी में हम जन्म लिये तो विवाद के लिए कोई स्थान नहीं होता किन्तु प्रगट शब्द संकेतित करता है दिव्य आविर्भाव को।

कबीर पर लेखनी उठाने वाले आचार्य 'जन्म' और 'प्रगट' के द्वन्द में नहीं उलझे।

डॉ०श्यामसुन्दर दास, आचार्य शुक्ल से लेकर आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी तक ने कबीर के जन्म के सम्बन्ध में प्रचलित किंवदन्ति, कि " आचार्य रामानन्द के आशिर्वाद से गर्भवती हुई किसी विधवा ब्राह्मणी ने लोकलाज के भय से अपने नवजात शिशु को लहरतारा तालाब के समीप रख दिया और उस पथ से जाते काशी के निसन्तान जुलाहा दम्पति नीरु और नीमा ने उस शिशु को वक्ष से लगा कर वात्सल्य उड़ेल दिया शिशु का नाम दिया **कबीर**" को ही विवशभाव से अपनी सहमति दे दी किन्तु आधुनिक सन्त डॉ० योगिराज गोवन्स जी ने अपनी पुस्तक "वैष्णव कबीर" में हिन्दी साहित्य प्रेमियो का एक दूसरी ही कथा परोस दी। प्राकृत ग्रंथ प्रसंग पारिजात का सन्दर्भ देते हुए उन्होंने लिखा है कि काशी के पंचगंगा घाट पर आचार्य रामानन्द की कुटिया थी उस कुटिया से संलग्न वाटिका थी जिसका पुष्प वैभव नन्दनकानन से होड लेता था। सखी से पुष्प विभाव की प्रशंसा सुन कर उषा बेला से पूर्व ही प्रतीची नाम की अप्सरा वाटिका मे आई। सखी के निषेध करने पर भी उसने सुन्दर सुन्दर फूल तोड़ कर अपने आंचल मे भर लिए। ध्यान में ही आचार्य रामानन्द ने यह दृश्य देख लिया। कुटीर से बाहर आ कर उन्होंने पूछा कौन हो तुम? उत्तर में प्रतीची बोली "वाटिका भ्रमण के लिये आई एक स्त्री" आचार्य रामानन्द ने पूछा और तुम्हारी गोद में क्या है? घबरा कर प्रतीची बोली "जी बालक है" तथास्तु कह कर आचार्य जी मुस्कराते हुए कुटी में चले गए। प्रतीची को गोद में रखे हुए फूल भारवान लगे, खोल कर देखा तो सचमुच बालक कुलबुला रहा था। दोनो बहुत घबराई, उन्हें लौट कर स्वर्ग तक जाना था। बालक का क्या करें? परामर्श किया और फिर दिव्य प्रेरणा से प्रेरित शिशु को लहरतारा तालाब के कमल पत्र पर लिटा कर चली गई।

इस कथा पर विचार करने से "प्रगट" और "रामानन्द चेताए" दोनों शब्दों का अर्थ स्पष्ट हो जाता है। फूलों से उद्भव दिव्य प्राकट्य सूचित कर देता है, और आचार्य रामानन्द के आशिर्वाद से जड़ पुष्प का चैतन्य मानव में रूपान्तरित हो जाना उन्हे रामानन्द और चेताए दोनो शब्दों से जोड़ देता है। साहित्यकारों ने चेताए को दीक्षा या शिष्यत्व के आधार रूप में भी प्रस्तुत किया है। किन्तु चेताए का अर्थ न दीक्षा है न शिक्षा वस्तुतः चेताए शब्द की अर्थ संगति चैतन्यता या फिर चेतावनी के साथ अधिक है। चेताये शब्द का अर्थ प्रबोध के अर्थ मे लें तो अर्थ स्थिति और भी स्पष्ट हो जाती है।

कबीर आचार्य रामानन्द के द्वादश महाभागवतो में से एक हैं। जहाँ तक शिष्यत्व का प्रश्न है सामान्यतः यह माना जाता है कि पंचगंगा घाट की सीढ़ियों पर पड़े कबीर

पर आचार्य रामानन्द जी का पैर पड़ गया और उनके मुख से निकला "राम राम कह" कबीर के लिए गुरुमंत्र बन गया। प्रत्यक्षत: या अप्रत्यक्षत: प्राप्त गुरुमंत्र के आधार पर विचारकों ने दोनो के बीच सम्बन्ध की एक सूक्ष्म डोर बाँध दी।

एक किंवदन्ति यह भी है कि कबीर की मृत देह चादर के भीतर ही फूला म परिवर्तित हो गई थी। फूलों से उद्भव और फूलों मे ही विलय का तन्तु परस्पर जुडा हुआ प्रतीत होता है कबीर की उक्ति **"ज्यों की त्यों धर दीन्ही चदरिया"** के अर्थ को भी स्पष्टता मिलती है। पुष्पमय आविर्भाव और पुष्पमय तिरोभाव उल्लेख्य दोहे की दूसरी पंक्ति की दिव्यता को अर्थवत्ता देता है ***"समरथ को परवाना लेकर हंस उबारन आए"।*** जीवात्मा का उद्धार करने के लिये परमात्मा का संदेश वाहक बनकर इस महात्मा को अवतरित होना पड़ा ।

कबीर पंथियों के अनुसार कबीर का जन्म नहीं हुआ था बल्कि आविर्भाव हुआ था। अमावस्या की रात्रि को जब कि नभ मण्डल घटाटोप मेघों से आच्छादित था और विद्युत कौंध रही थी उस समय लहरतारा तालाब में एक कमल प्रकट हुआ फिर वह ज्योति में परिणित हुआ और वह ब्रह्म स्वरूप ज्योति ही कबीर है। कबीर पंथ की इस मान्यता का आधार है निम्न दोहा -

घन गरजे दामिनि दमके बूंदे बरसें झर लाग गए।
लहर तलाब में कमल खिले, तहँ कबीर भानु प्रकट हुए।।

इस पद्य में 'प्रकट' शब्द तो स्पष्ट है किन्तु रामानन्द का कोई उल्लेख नहीं है।

जन्म की कथा कुछ भी हो कर्म की कथा ही अस्तित्व को सार्थकता देती है। कबीर "परमात्मा का संदेश लेकर जीवात्मा का उद्धार करने आए थे, जिसे उन्होंने प्राण पण से पूरा किया।

पारिवारिक परिस्थिति – "हौं काशी का जुलाहा" कहकर आत्मपरिचय देन वाले कबीर ने नि:संदेह परिश्रम और परमार्थ का पहला पाठ माता पिता से ही पढा। करघे पर सूत चढ़ाया, भरनी ले कर ताना बाना डाला, चादर बुनी, ओढ़ी भी उढाई भी कबीर के हाथों ने "कलम नहीं गही" किंतु "झीनी झीनी चदरिया" अवश्य बिनी। काम कोई छोटा नहीं होता इसीलिए व्यवसाय को गरिमा देते हुए कबीर ने इसके ही प्रतीकों में ज्ञानयोग की सतरंगी छाया भर दी। इसका ज्वलंत उदाहरण है कबीर का निम्न पद–

जोलाहा बिनहु हो हरि नामा,जाके सुर नर मुनि धरे ध्याना
ताना तने को अंगुठा लीन्हा, चरखी चारेउ बेदा ।।

सरकडी है राम नारायण पूरण प्रकटे भेदा ।।
भव सागर एक कठवत कीन्हा तामें माड़ि साना ।
माड़ी का तन माड़ी रहा है माड़ी बिरले जाना।।
चान्द सूर्य दुई गोड़ा भयऊ, दिग के माँझा कीन्हा।
त्रिभुवन नाथ जो माँजन लागे नियम पुरिय दीन्हा।।
पाई करी जब भरना लीन्हा, बै बाँधन को नामा ।
बै भराय तिहुँ लोकहिं बाँधेय कोई न रहत उबामा ।।
तीन लोक एक करघहि कीन्हा दिग मग कीन्हो ताना ।
आदि पुरुष बैठावन बैठे कबिरा जोत समाना ।।

इसी प्रकार कबीर ने अपने प्रसिद्ध गेय पद

झीनी झीनी बीनी चदरिया,
काहे को ताना काहे को भरनी कौन तार से बीनि चदरिया
इला पिंगला ताना भरनी सुखमन तार से बीनि चदरिया
आठ कँवल दल चरखा डोले पाँच तत्त गुन तीनी चदरिया
साईं को सियत मास दस लागे ठोक ठोक कै बीनी चदरिया
सो चादर सुर नर मुनि ओढ़ी ओढ़ के मैली कीनी चदरिया
दास कबीरा जतन से ओढ़ी ज्यों की त्यो धर दीन्ही चदरिया।।

में जुलाहे के कार्य व्यापार को आध्यात्मिक संदर्भ में अंकित किया है । इला पिंगला सुषमना, कुण्डलिनी सभी को '' करघे और चर्खे'' से जोड़ दिया। दुरूह को 'सहज' बनाया दुर्गमघाटी सुगम हो गई। कबीर के व्यक्तित्व को यदि पारिवारिक परिस्थितियो ने स्पर्श किया तो राजनैतिक, सामाजिक और धार्मिक परिस्थितियों ने झकझोर कर रख दिया।

राजनैतिक परिस्थितियाँ – ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में कबीर के समय की राजनैतिक परिस्थितियाँ अत्यन्त ही संकटापन्न, द्वन्द, दमन, क्रूरता, आक्रामकता से युक्त थी। सं.१४४५ में तैमूर के दुर्दान्त शासन का स्वरूप जनमानस देख चुका था दिल्ली का शासन एक एक कर तुगलक सैय्यद और लोदी वंश के हाथों से होता हुआ तलवार के बल पर चल रहा था, युद्ध प्रियता, राज्य लिप्सा, कठोरता खुल कर ताण्डव कर रही थी। मुसलमानों के अत्याचार से, विशेष कर धर्म परिवर्तन के लिए शक्ति और सत्ता के दबाव से, हिन्दू जन मानस आक्रान्त था। मन्दिरों और मूर्तियों का ध्वस्त होना सामान्य बात थी। जाति के आधार पर मनुष्य खण्ड खण्ड हो रहा था। इस स्थिति पर संवेदनशील जागरूक मानस कराह उठे। उनकी कराह ने भक्ति आन्दोलन की राह

पकडी। मानवता के आधार पर धर्म जाति से परे मनुष्य को जोड़ने के लिए, विराध, विभेद और वैमनस्य की खाई को पाटने के लिए परमसत्ता की साधना आवश्यक हा गई। कवीर इस राजनैतिक प्रभाव से अछूते नहीं रहे। एक नए **मानवतावादी समाज** की संरचना के लिए उनकी "आँखन देखी" साखी वन कर सामने आई और उनकी वानी मुखर हो गई।

सामाजिक परिवेश – समाज केवल मनुष्यों की भीड को नहीं कहते वल्कि समाज विविध धर्म, दर्शन, संस्कृति और साहित्य में आस्था रखने वाले समुदाय का संगठन हाता है और इस सामाजिक संगठन की धुरी हाेता है प्रेम। राजनीतिक शासन ने इस प्रम पर ही प्रहार किया था। फलतः समाज का खण्ड खण्ड विखर जाना स्वाभाविक था। कवीर ने तो पूरी शक्ति लगा कर प्रेम की महिमा पर ही नहीं आवश्यकता पर भी वल दिया। कवीर के एक नहीं अनेक दोहे और सवद प्रेम के व्याख्याता हैं। कवीर की साखी-

पोथी पढ़ पढ़ जुग मुआ पंडित भया न कोय,
ढाई आखर प्रेम को पढ़ै सो पंडित होय।

अशिक्षित लोगों को भी कठ है वह यह भी जानते हैं कि प्रेम में त्याग आवश्यक ह क्योंकि ***"ये तो घर है प्रेम का खाला का घर नाहीं"*** अतः पहले "सीस उतार कर भुई पर धरना हाेता है" कुछ पाने के लिए कुछ छोड़ना पड़ता है। अत. कवीर ने अपन समय की सामाजिक परिस्थिति से अनुप्रेरित होकर आडम्वर मुक्त प्रेमा लक्षणाभक्ति की पताका हाथ में थाम ली और सहज मानवीय सम्वन्धों की दिशा में समाज का ल चले।

धार्मिक परिवेश – कवीर को धार्मिक परिवेश वड़ा सशक्त मिला। वैदिक धर्म की नींव भारत में वड़ी गहरी थी फिर भी वढ़ते हुए कर्मकाण्ड और आडम्वर अभिचार ने अपने से कुछ सुगम धर्म को मार्ग दे दिया। यह मार्ग था वौद्धधर्म का, इससे विकसित महायान, हीनयान, वज्रयान, धर्म के क्षेत्र में गतिशील हुए। वज्रयान में वढ़ती तान्त्रिकता ने एक दूसरे ही मत को पथ दिया यह मत था नाथ पंथ। सिद्ध और नाथ पथ को सांध्यपथ कहें तो अनुचित नहीं होगा। नाथपंथ में लगभग सभी पूर्वपंथों की प्रवृत्तियों का कुछ न कुछ समाहार हुआ है। कवीर को जिस सन्तमत में प्रतिष्ठित किया गया है उस सन्तमत का सीधा सम्वन्ध नाथ पंथ से है। संतमत पर अपनी व्याख्या देते हुए साहित्येतिहासकार शिवकुमार शर्मा ने लिखा है "वौद्ध धर्म से लेकर नाथ सम्प्रदाय तक इस प्रक्रिया मे जो जीवन तत्व उभरे उन सव का समावेश सन्त काव्य

म हुआ बौद्ध धर्म का शून्यवाद नाथ सम्प्रदाय की अवधूत भावना और योग वज्रयानी सिद्धों की सध्या भाषा की उलट बासियों तक का इसमें समाहार है। सन्त काव्य में अवतार, मूर्ति, तीर्थ, व्रत का कड़ा विरोध किया गया है तथा शून्य काया, सहज समाधि योग, इला पिंगला सुषुम्ना, षटचक्र, सहस्त्रदल कमल, सूर्य, चन्द्र प्रतीकों को ग्रहण किया गया है।'' सन्त मत क्यों कि ''कागद लेखी'' पर आधारित न होकर 'आँखिन देखी' पर आधारित है अतः सन्त कवियो ने जो कुछ देखा, जो कुछ सुना उसे गुना और अपनी बानियों में ढाल दिया। सन्त मत में सन्तों की बानियों में भक्ति की भी पर्याप्त झलक मिलती है आँखन देखी कहने वाले वैष्णव धर्म से कैसे अछूते रह जाते । आलवार भक्तों का धार्मिक आन्दोलन, कुमारिल भट्ट, शंकराचार्य, नाथमुनि रामानुजाचार्य, निम्वार्काचार्य आदि की धार्मिक दार्शनिक प्रवृत्तियो का भी प्रभाव सन्त मत पर पड़ा। कबीर और परवर्ती कवियों पर इसकी झलक बहुतायत में मिलती है। 'द्राविड़ी ऊपजी' जिस भक्ति को रामानन्दाचार्य दक्षिण से उत्तर में लाए उसके आराध्य राम थे *''भगति द्रावड़ी ऊपजी लाए रामानन्द''* यह राम संतों के भी ''अक्षय पुरुष'' थे। हां सन्तो के राम के आगे एक विशेषण लग गया था निर्गुण निराकार। कबीर ने *''निर्गुण राम जपहु रे भाई''* कह कर इसी का अनुमोदन किया है। सन्त मतावलम्बियों को विशेष कर सहज प्रेमी कबीर को सूफी दर्शन ने भी कम प्रभावित नहीं किया। *''सूफियों की प्रेम की पीर''* सन्त काव्य में यत्र तत्र सर्वत्र दिखती है। कबीर के निम्न दोहे में इसी प्रेम की पीर की गहनता व्यंजित है-

यह तन जारौं मसि करौं लिखौं राम को नांऊ
लेखणि करौं करंक की लिखि रामहि पठाऊं''

आँखड़िया झाई परी पंथ निहार निहार,
जीभड़ियां छाला पड़ा नाम पुकार पुकार

साहित्यिक परिवेश – कबीर से पूर्व भारतीय धर्म साधना ने बहुरंगी साहित्यिक परिस्थितियों की रचना कर दी थी। अलवार भक्तों के समय से ही वैष्णवता से युक्त साहित्यिक परम्परा चल निकली थी। शंकराचार्य (अद्वैत) रामानुजाचार्य (विशिष्टाद्वैत) मध्वाचार्य (द्वैताद्वैत) वल्लभाचार्य (शुद्धाद्वैत) आदि के साहित्य को वैदिक साहित्य की बलशाली भूमिका मिली, वेद पुराण, श्रुति स्मृति, उपनिषद आरण्यक आदि की समृद्ध वस्तु और शिल्प ने इन्हें प्रेरित किया। दार्शनिक सिद्धान्तो और उपदेशों के लिए तो यह वस्तु और शिल्प ठीक था किन्तु जन आन्दोलन की दिशा पकड़ने वाले साहित्य

को जनमानस के स्तर तक पहुँचाने के लिए जन, मन के आचार विचार और व्यवहार को सुधारने के लिए उनके स्तर की भाषा को चुनना पड़ता है। वैदिक संस्कृत से लौकिक सस्कृति और फिर एक के बाद एक प्राकृत, पाली, अपभ्रंश पुरानी हिन्दी बोलचाल की साध्य भाषा तक भक्तों और सन्तों की लेखनी गतिमान हुई। सिद्धों, नाथों से सन्त साहित्य परम्परा तक आते आते भाषा केवल भाव सम्प्रेषण का माध्यम बनकर रह गई। सीधे सीधे नहीं कह सके तो घुमा फिरा कर अपनी बात कहना ही प्रधान था। अब विद्वान इसे चाहें पंचमेल खिचड़ी कहें, चाहे उजड्ड गवारू भाषा कहे या फिर सुवासित ओदन की संज्ञा दे, सन्तों को तो अपनी बात कहनी थी कह दी। एक बात और थी कि हिन्दी सन्त काव्य परम्परा के अधिकांश कवि शिक्षित सुविज्ञ, शास्त्रज्ञ नही थे, ये केवल बहुश्रुत और बहुदर्शी थे, सत्संगी थे इसीलिए कागद लेखी कम आँखन दखी अधिक थी। कबीर ने तो इस सत्य को बार बार स्पष्ट किया है। स्पष्टतः जिस साहित्यिक परिवेश में कबीर की बानी मुखरित हुई वह इन्द्रधनुषी था, इसीलिए कबीर के *"साखी सबदा दोहरा"* भी भाव विचार और भाषा के बिन्दु पर इन्द्रधनुषी है मानवीय सचेतना से विशेष रूप से जुड़े होने के कारण कबीर के काव्य का इन्द्रधनुष आकाशीय इन्द्रधनुष की भांति क्षणिक नहीं है प्रत्युत शताब्दियों की सीढ़ियां लांघ कर यह आज भी साहित्याकाश में पूर्ण विभव के साथ स्थित है। परिस्थितियाँ व्यक्तित्व की रचना करती हैं और व्यक्तित्व जन जन के मंगल के लिए परिस्थितियों को नया मोड देता है।

प्रभाव,प्रतिक्रिया और व्यक्तित्व – कबीर अपने ढंग के अप्रतिम सन्त कवि हैं। सन्त उसे कहते हैं जो आत्मानुभव के आधार पर सत्य का साक्षात्कार कर लेता है। जो पिण्ड में है वह ब्रह्माण्ड में है इस सत्य को उन्होंने गहराई से अनुभव किया था। नही तो वह डंके के चोट पर क्यों कहते कि -

हम सब माँहि सकल हम माहि । हम ते और दूसरा नाहि।।

"आत्मवत सर्वभूतेषु" का दर्शन उनके लिए सिद्धान्त न हो कर जीवन था। इसी लिए प्राणी मात्र के लिए प्रेम उनके व्यक्तित्व का सबसे चटख रंग था। कबीर के व्यक्तित्त्व की विराटता देख कर ऐसा लगता है जैसे कबीर की समाकालीन राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक परिस्थितियों ने कबीर को दुहाई देकर "प्रकट" होने के लिए आमंत्रित किया हो। दमनात्मक, अत्याचारी शासन से लोहा लेने के लिए, जर्जर होती सामाजिक व्यवस्था को सुधारने के लिए, मुल्ला और पंडितों के उठाए मन्दिर मस्जिद के झगड़े , ब्राम्हण और शूद्र के नाम पर गहराती खाई को पाटने के लिए ही कबीर

का क्रातिकारी व्यक्तित्व   ़ुकाटी हाथ म नकर   वाजार   म आकर खड़ा हो गया उनकी तजस्वी वाणा म सकीणताआ और आडम्बरो से मुक्त होन का आह्वान था। विश्व धर्म का मार्ग प्रशस्त करने वाले इस सन्त ने पुकार पुकार कर कहा कि **''पुहुप**
वास से पातरा'' तुम्हारा प्रभु तुम्हारी आत्मा में ही है। यदि ईश्वर या अल्लाह कहीं है तो वह मनुष्य के मन के भीतर है, मन्दिर और मस्जिद में नहीं''

मोको का ढूँढ़े बंदे मैं तो तेरे पास में,
न मैं देवल न मै मस्जिद न काबा कैलास में।

पाना है तो खोजो और पाओ।

''कबीर परचई'' लिखने वाले श्री अनन्तदास जी ने कवीर की प्रशंसा वहुविधि की है। प्रशंसा के साथ उनके जीवन से उस यथार्थ को भी प्रकाशित किया है जिसने कवीर को यंत्रणा के घेरे में डाल दिया। सिकन्दर लोदी के द्वारा दी गई यातना का उल्लेख करते हुए अनन्तदास ने लिखा है-

साह सिकन्दर काशी आया काजी मुल्ला के मन भाया,

ऐसे वादशाह के विरुद्ध खडे होने पर कवीर को पीडा झेलनी पडी। अनन्तदास जी लिखते हैं-

बांध्यो पग मेल्यों जंजीरू लै बोरयो गंगा के नीरु,

अनन्तदास ने कवीर के उस तमालवृक्षीय रूप को उजागर किया है जो यंत्रणाओं के भीषण आंधी तूफान में भी अडिग खड़ा रह सकता है ।

पीपादास जी जो आचार्य रामानन्द के शिष्य थे और कवीर के निकट थे उन्होने तो यहां तक लिखा है कि-

जौ   कलि   माँझ   कबीर   न   होते
वेद अरु कलियुग मिलिकर भगति रसातल देते''

इस एक पंक्ति से कवीर के व्यक्तित्व की विशालता स्वयं उजागर होती है। आचार्य रामानन्द ने भक्ति को जन मानस में वनाए रखने के लिए ही अपने द्वादश महाभगवतों मे से किसी को निर्गुण के पथ पर भेज दिया तो किसी को सगुण के। आचार्य रामानन्द युग पुरूष थे,कवीर की जननायकत्व की क्षमता से भिज्ञ थे, जिस विधि वने भक्ति की रक्षा उन्हें करनी थी। अतः यदि उन्होंने कबीर को द्वादश महाभागवत में स्थान दिया तो आश्चर्य क्या?

कवीर के व्यक्तित्व की गंगा जमुनी आभा, वहुधा विद्वान आलोचकों को भ्रान्ति में भटका देती है, कोई कवीर पर सन्त का बिल्ला लगा देता है, कोई भक्त का। कोई

प्रवृति मार्गी बताता है तो कोई निवृति मार्गी कोई वैष्णवता की छाया में सगुण उपासक घोषित करता है तो कोई नाथपंथ से प्रभावित निराकार का योग साधक कह कर संताप करता है। इस सम्वन्ध में कबीर का एक दोहा-

जिन ढूढ़ा तिन पाइयाँ, गहरे पानी पैठ,
मैं बपुरा बूढ़न डरा, रहा किनारे बैठ ।

विशेष उल्लेखनीय है, हममें से अधिकाश लोग किनारे बैठे बैठे कवीर की जीवन धारा से घोंघे सीपी बटोरते रहे। हां कुछ अवश्य पानी में उतरे कितना गहरे गए यह तो इतिहास ही बताएगा। विद्वानों के बीच कबीर का व्यक्तित्त्व यदि आज भी निर्भ्रान्त नही है तो इसका अर्थ है कि पानी की पैठ अभी पूरी नहीं हुई है। यदि एक स्रोतस्विनी पूरी शक्ति से प्रवाहित होती है और गतिशीलता के बीच छोटे बड़े नदी नाले उससे मिल जाते हैं तो उसके मूल प्रवाह पर प्रश्न चिन्ह नहीं लग जाता,उसकी मौलिकता अक्षुण्ण रहती है। कबीर का जीवन भी ऐसी स्रोतस्विनी का जीवन है जिस ने देश, काल, पात्र परिस्थिति, त्वरित आवश्यकता के आधार पर जन कल्याण के लिए जो उचित समझा कहा और मानव को मानव वनाए रखने के लिए जो उचित समझा वह किया।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने कबीर के सम्बन्ध में अपना मत व्यक्त करते हुए लिखा है 'वैष्णवों से उन्होंने अहिंसावाद और प्रपत्तिवाद लिए, इसीलिए उनके तथा निर्गुणवाद वाले संतों के वचनों मे कहीं भारतीय अद्वैतवाद की झलक मिलती है तो कहीं योगियों के नाड़ी चक्र की , कहीं सूफियों के प्रेम तत्व की कहीं पैगम्वरी कट्टर खुदावाद की और कही अहिंसावाद की अतः तात्विक दृष्टि से न तो हम इन्हें पूरे अद्वैतवादी कह सकते है न एकेश्वर वादी दोनों का मिला जुला रूप इनकी वाणी में मिलता है। ''आचार्य शुक्ल ने अपने निष्कर्ष में कबीर को मधुकरी वृत्ति का जीव माना है, जहां से जो मिला ले लिया। यदि आचार्य शुक्ल ने युगीन परिस्थितियों के सन्दर्भ में असहाय, यातनाग्रस्त, निरावलम्व जन मन की गति पर दृष्टि रखी होती तो सम्भवतः कबीर के सम्बन्ध मे उनकी दृष्टि दूसरी होती। जिन आंखों ने अपने देव मन्दिरों और मूर्तियो को अपनी आखोसे ध्वस्त होते देखा तलवार की नोंक पर धर्म परिवर्तन की पीड़ा झेली, सिकन्दर लोदी की सत्ता की तलवार के नीचे अपने ही लोगों की गर्दनों को गाजर मूली की तरह कटते हुए देखा, उन से सगुण भक्ति की बात करना, हिन्दू और मूसलमानों के धार्मिक अभिचार और अनुष्ठानों की बात करना जले पर नमक छिड़कना होता। अवसर की पुकार पर उन्होंने ईश्वर को मन्दिर और मस्जिद से निकाल कर, रोजा, नमाज,

एकादशी, कण्ठीमाला के फद से छुड़ाकर , घट घट मे स्थापित कर दिया, *"तेरा साई तुज्झमें ज्यों पुहपन में वास"* या फिर *"घट घट में वह साई रमता, कटुक वचन मत बोल "* कह कर अन्तस्थ ईश्वर की ओर मोड़ दिया। जब हर आत्मा परमात्मा है तो कैसा विरोध, कैसा वैमनस्य? कबीर ने अपने मन्तव्य की पुष्टि में तो यहां तक कह दिया कि-

लोका जानि न भूलो भाई।
खालिक खलक खलक में खालिक सब घट रह्यो समाई।।
अल्ला एकै नूर उपजाया ताकी कैसी निंदा।
ता नूर से सब जग कीया कौन भला कौन मंदा।।
ता अल्ला की गति नहिं जानी गुर गुड़ दिया मीठा ।
कहै कबीर मैं पूरा पाया सब घट साहिब दीठा ।।

अतः पिण्ड और ब्रह्माण्ड की एक रुपता समझो, सृजनहार यदि अविनाशी है तो हम भी अविनाशी ही हुये –

हरि मरिहैं तो हमहु मरिहैं।
हरि न मरैं हम काहे को मरिहैं।।

अन्तस्थ प्रभु की निकटता के विश्वास ने, आपात स्थितियों से टकराने का बल दिया, सहज जीवन जीने की क्षमता दी। निरावलम्ब मन को इससे बड़ा और सम्बल क्या चाहिए? कबीर के व्यक्तित्व को, यदि सचमुच किसी वाद का लबादा उढाना ही है तो वह है **विश्वात्मवाद, मानवीय संचेतना और मानवीय संवेदना में रंगा हुआ मानव** वाद यद्यपि कबीर का व्यक्तित्व द्वन्द फन्द को, कारा बन्ध को तोडने वाला है, ओढ़ने वाला नहीं है।

कबीर के व्यक्तित्व का मूल्यपरक वर्णन करते हुए डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने लिखा है "वे सिर से पैर तक मस्त मौला, स्वभाव से फक्कड, आदत से अक्खड, भक्त के सामने निरीह, भेषधारी के आगे प्रचण्ड, दिल के साफ, दिमाग के दुरुस्त, भीतर से कोमल बाहर से कठोर, जन्म से अस्पृश्य, कर्म से बन्दनीय थे। युगावतार की शक्ति और विश्वास ले कर वह पैदा हुए थे, और युग प्रवर्तक की दृढ़ता उनमे वर्तमान थी इसलिए वे युग प्रवर्तन कर सके।" इसमें कोई सन्देह नहीं कि डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने अपनी इस टिप्पणी द्वारा कबीर को दम्भी साधु" मधुकरी वृत्ति के जीव" आदि विशेषणें के दलदल से निकाल कर चन्दन चर्चित पीठिका पर आसीन कराया है। किन्तु टिप्पणी के कुछ शब्द विरोधाभासी लगते हैं। उदाहरणार्थ "मस्तमौला"

''अक्खड़'' कठोर इत्यादि। युग प्रवर्तन की सामर्थ्य रखने वाला व्यक्ति, निश्चित ही जागरूक होगा और जो जागरूक होगा उसका मस्तमौला होना कठिन है, कबीर ने स्वय लिखा है-

सुखिया सब संसार है खावे और सोवे।
दुखिया दास कबीर है जागे और रोवे।।

अत: जो सर्वात्म के कल्याण के लिए चिन्तित हो उसका मस्तमौला होना कठिन है। दूसरा शब्द हे ''अक्खड'' यदि कोई स्वभाव से सदाशय है तो उसका व्यवहार में अक्खड़पन हताशा से उत्पन्न खीज ही होगी । कबीर बारम्बार समझाते है इस पथ पर गड्ढे हैं, गिर सकते हो, देख कर चलो इस पर भी अनसुनी कर के कोई चलता ही जाए तो उसे अन्धा, नासमझ कहना अक्कखड़ता नहीं है अत: यदि कबीर चिढ़कर कहते हैं–

जाका गुरु भी आंधला चेला खरा निरंध,
अन्धै अन्धा ठेलिया दोनो कूप पड़न्त,

तो उनका यह कथन पांखन्डी मुल्ला और पंडित तथा उनके अनुयायियों के सामने दपर्ण रखना है, सत्य कथन करना है । कबीर का अन्त: और बाह्य पारदर्शी था। अत: यदि वह अन्दर से कोमल थे तो बाहर की कठोरता कठोरता न हो कर मात्र उपदेश की गुरुता ही मानी जाएगी। उनका हिन्दू और मुसलमान से यह कहना-

''अरे इन दोउन राह न पाई,
हिन्दुन की हिन्दुआई देखी, तुरकन की तुरकाई।''

****

देव पूजि पूजि हिन्दू मुये तुरक मुये हजि जायी
जटा बाँधि बाँधि योगी मुए इनमें किनहु न पाई

अथवा

कहुरे मुल्ला बाँग निवाजा ।
एक मसीत दसौं दरवाजा ।।

कठोरता नहीं पात्र और परिस्थिति जन्य गुरुतर आग्रह है।

कबीर के व्यक्तित्व को लेकर जो भ्रन्तियां हे उसका कारण है कबीर को उनकी समग्रता में न देखा जाना। खण्ड खण्ड कर देखना अन्धों के हाथी से अधिक नहीं है। सतत प्रवाहमाना गंगा से यदि कोई घड़े में जल भरे, कोई सुराही में, कोई बाल्टी में कोई लोटे में कोई   में तो क्या पात्रों की विविधता से गंगा जल का रूप बदल

सकता है, गंगाजल तो गंगा जल ही रहेगा। कबीर तो कबीर ही रहेंगे, अपनी समग्रता में, अपनी मौलिकता में। अब चाहें निगुर्ण संत की चप्पी चिपकाइए, चाहें वैष्णव भक्त की समाज सुधारक की, हिन्दू मुस्लिम ऐक्य विधायक की, विद्रोही फकीर की, अद्वैत वादी की एकेश्वर वादी की इत्यादि। विशाल व्यक्तित्व को खंडित कर के देखने की नीति वेसी ही है जैसे पेड़ को न देख कर उसकी शाखाओं को ही पेड की संज्ञा दे कर पूर्ण मान लेना। एक प्रवाहमान नदी अपनी गतिशीलता में लक्ष्य तक पहुंचने के लिए न जान कितने मोड़ लेती है। ठोकर लगाते, टकराते, पथ बनाते, उछलते कूदते, लाघते फलागते अपने लक्ष्य तक नदी पहुंच ही जाती हैं, किसी भी स्थिति में अपना लक्ष्य न भूलती है न भटकती है। कबीर की जीवन धारा भी ऐसी ही है। कबीर का यह दोहा इस कथन की पुष्टि करता है-

एक न भूला दोय न भूला भूला सब संसारा ।
एक न भूला दास कबीरा जाके राम अधारा ।।

उनका लक्ष्य स्पष्ट था परमात्मा से तादात्म्य। संपुष्टि के लिए एक पंक्ति ही पर्याप्त हे ***"ज्यूं जल में जल पैसि न निकसे यों ढरि मिल्या जुलाहा"***। हिन्दी साहित्य का यह कवि स्वयं में अप्रतिम है।

कृतित्व –की दृष्टि से यदि कबीर पर विचार करें तो पहले जो वस्तु सामने आती हे वह है कबीर का आत्मकथ्य ***" मसि कागद छुओ नहि, कलम गही नहि हाथ"*** अत स्पष्टत: कबीर ने स्वयं कोई ग्रन्थ रचना नहीं की केवल आंखिन देखी को अपनी बानी मे ढाल कर जन मानस को परोस दिया। जिसके पात्र में जितना समाया और जिसे जो भाया उसने उसे सहेज लिया। अनुयायियों,श्रद्धालु शिष्यों,समकालीन सन्तों ने इसे सग्रहीत किया । सहित्यकारों के हाथ में जो संग्रह आया उसे "बीजक" की संज्ञा प्राप्त हे। इस ग्रन्थ को तीन भागों में विभक्त किया गया है। साखी, सबद, रमैनी, डॉ०पारस नाथ तिवारी ने अपने शोध ग्रन्थ में प्रमाणिकता के आधार पर साखियों की संख्या ७८४ सबद की संख्या २०० और रमैनी की संख्या २१ बताई है किन्तु यह संख्या मात्र है कृतित्व की सीमा नहीं। विशेष उल्लेखनीय है डा. रामदास गौड़ और डा रामकुमार वर्मा। डॉ०गौड़ ने अपनी कृति हिन्दुत्व में कबीर के ग्रंथों की संख्या ७१ मानी है जबकि रामकुमार वर्मा अपने इतिहास में ग्रन्थों की संख्या ६१ बताते है। यो तो कतिपय विद्वान 'अनुराग सार', 'उग्रगीता', 'निर्भयज्ञान', रेखतों, सब्दावली आदि लगभग छुटपुट पचास साठ ग्रन्थ कबीर की कृति मानते हैं। प्रामाणिकता के अभाव

में मानने को कुछ भी माना जा सकता है पर इस पर सर्व सहमति नहा है। अभी लगभग एक माह पूर्व काशी के कवीर कीर्ति मन्दिर द्वारा कवीर कृत 'महावीजक' प्रकाशित हुआ है। लोकार्पण होने के वाद भी ग्रन्थ लोक के हाथों से दूर है अत: इसकी गहनता और विस्तार के सम्वन्ध मे कुछ कहना कठिन है। आलोचक एक वात पर सहमत हैं और वह है कबीर की रचनाओं में क्षेपकों की भरमार। किन्तु केवल दार्शनिकता, सैद्धान्तिकता और भाषा के आधार पर कवीर की संग्रहित वानियों में क्षेपकों की भरमार कहना वहुत संगत नहीं है। पात्र और परिस्थिति के अनुसार, देश और काल के अनुसार, भाव और भाषा का परिवर्तित होते रहना स्वाभाविक है, फिर कवीर ठहरे " रमताजोगी वहता पानी" पानी तो दो कोस पे वदलता है किन्तु वानी कोस कोस पर वदल जाती है। भाषा शास्त्र मे परिगणित स्थानीय और घरु वोलियाँ इसका प्रमाण है। कुछ छूट जाना कुछ जुड़ जाना प्रकृति का सत्य है, अत: कवीर की वानियों में भी कुछ घट जाना और कुछ का वढ़ जाना अस्वाभाविक नही है। साहित्यिक अध्ययन का मूल आधार है 'वीजक'। कवीर का वीजक ऐसा भाव सागर है जिसकी हर तरंग से धर्म, दर्शन, देश कालिक मूल्य, साधना और संगीत, प्रेम, और त्याग की फुहारें उड़ती है। इन फुहारों से भीगी कवीर की वानियों की चादर तन को यदि शीतलता देती है तो मन में उजास भर देती है। उनकी वानियां अशिक्षित जनता के मुख से भी पूरी भाव चेतना से उच्चरित होती है। जव तव सुनने में आता है *" मन न रंगायो, रंगायो जोगी कपड़ा" कबिरा माला काठ की कह समुझावे तोय, मन न फिरावे आपना कहा फिरावे मोय" "दिन भर रोजा रहत हैं रात हनत है गाय" मूड़ मुड़ाए हरि मिलै सब कोई लेहु मुड़ाय"* इत्यादि सामान्य जन के मुख से लोकोक्तियों के रूप में प्रयुक्त हो रहे हैं। किसी भी कवि के कृतित्व का इससे वड़ा उपाख्यान और क्या हो सकता है कि वह शताव्दियों वाद भी लोक कंठ में विराजमान है।

अनुभूति

दार्शनिक चिन्तन, जीव और ब्रह्म, अद्वैत, परमार्थिक जागृति, सुरति, एतिहासिक विकास क्रम, निरति, जगत, माया, सैद्धान्तिक एवं व्यवहारिक विवेचन, सहज समाधि, रहस्यवाद, भावनात्मक रहस्यवाद, गुरु सम्बन्धी अवधारणा, आलम्बन का स्वरूप, सृष्टा और सृष्टि की एकरूपता, बाजार शब्द वैशिष्ट्य षट्रिपु, विवेक मानवता आधारित जीवन मूल्य, करुणा दया, प्रेम, लोकनायकत्व, उद्‌बोधन, निष्कर्ष

दार्शनिक चिन्तन – कृतित्व, दार्शनिक चिन्तन एवं अनुभूति का पुंजी भूत रूप होता है। कबीर की वानियों में उनकी चैतन्य जीवनानुभूति एवं जीव जगत और ब्रह्म सम्बन्धी सैद्धान्तिकता समाई हुई है। चतुर्दिक फैले परिवेश से इस सन्त ने सुन कर देख कर जो कुछ पाया उसे **अनुभूति** के सांचे में ढाल कर जीवन मूल्य के रूप में प्रस्तुत कर दिया।

कबीर ने जब भक्ति दर्शन में प्रवेश किया उस समय भारतीय धर्म साधना के क्षेत्र मे शंकराचार्य के अद्वैत से लेकर विशिष्टाद्वैत, द्वैताद्वैत, द्वैत और शुद्धाद्वैत अपनी जडे जमा चुके थे। इसके साथ ही वैष्णव भक्ति आन्दोलन भी आरम्भ हो चुका था। कबीर की संत परम्परा पर सिद्धों और नाथों का तो प्रभाव था ही सूफियों का भी कम प्रभाव नही था। कुछ विचारक इस्लाम के प्रति भी उनका झुकाव देखते हैं जो समीचीन नही है। केवल मूर्तिपूजा विरोध को आधार बना कर कबीर को इस्लामिक धर्म के घेरे मे खींच ले जाना कहां तक संगत है। खुदा या अल्लाह शब्द का प्रयोग यदि कबीर ने किया है तो राम, मुरारी, हरि गोपाल आदि का भी प्रयोग किया है और यह प्रयोग इसलिए किया है क्योंकि वह मानवधर्म विधायक थे, हिन्दू मुस्लिम एक्य विधायक नही थे। समन्वयवादिता समय की आवश्यकता थी। मनुष्य केवल मुनष्य है।

नश्वरता की अनुभूति शाश्वत की खोज की भूमिका तैयार करती है। जीवन की नश्वरता में ही किसी अनश्वर की अनुगूंज सुनाई पड़ती है । कबीर ने अपनी बानियों में बहुलता से मानव जीवन की क्षणभंगुरता के दर्शन कराए हैं-

पानी केरा बुदबुदा अस मानुष की जात

देखत ही छिप जायगा ज्यो तारा परभात।।

इस क्षणभंगुर जीवन में, दूसरों के श्रम पर, प्रपीड़न पर क्यों उठा रहे हो उच्च अट्टालिका, भव्य भवन, कितने दिन रहना है तुम्हे? सोचो तो-

कहा चिणावे मेणियां लाम्बी भीत उसारि।
घर तो साढ़े तीन हाथ घना तो पौन चारि।।

इन्द्रिय आसक्ति में पड़े मनुष्य को देख कर वह व्यथित होते हैं ***''जाका बास गौर (कब्र) में सो कत सोवै सुक्ख''*** इसे जगाना होगा, चेताना होगा नहीं तो इन्द्रियां मनुष्य के जीवन क्षेत्र को उजाड़ कर रख देगी।

जतन बिन मिरगिन खेत उजारे,
टारे टरे नहीं निसि बासर बिडरत नाहिं बिडारे ।।
अपने अपने रस के लोभी करतब न्यारे न्यारे ।
अति अभिमान बदत नहिं काहू बहुत लोग पचि हारे ।।
बुधि मेरी किरखी गुरु मेरो बिझुका अक्खिर दोउ रखवारे ।
कहे कबीर अब चरन न देइहौं बेरियां भली संवारे ।।

ब्रह्म और जीव – कबीर की ज्ञान चेतना का शाश्वत की अनुभूति का यही आरम्भ बिन्दु है जिसका केन्द्र बिन्दु है जीव और अनश्वर ब्रह्म जो अरूप है, निर्गुण है निराकार है। कबीर की बानियों में इस ब्रह्म के स्वरूप को समझाने का बारम्बार प्रयास किया गया है।

जाके मुह माथा नहीं, ना हीं रूप अरूप।
पुहुप वास से पातरा ऐसा तत्व अनुप।।

उनका यह अरूप ब्रह्म सर्वभूत जगत व्यापी है। खालिक खलक में समाया हुआ है। घट घट वासी ब्रह्म कहीं बाहर नहीं इसी पंचतत्व की काया के भीतर है-

बूझों करता आपना मानो वचन हमार।
पंचतत्व के भीतरै जाका यह संसार।।

मन्दिर मस्जिद, तीर्थों, धर्म ग्रन्थों में भटक कर प्राण त्याग देने वालो को यह मिलगा नही। ऐसे अज्ञानियों की स्थिति कस्तूरी मृग वाली ही है ***''कस्तूरी कुण्डलि बसै मृग ढुढ़ै वन माँहि''***। कबीर कहते है कि अन्तस्थ ब्रह्म का साक्षात्कार करने के लिए माया के आवरण को हटा दो और उसे पा लो –

घूंघट के पट खोल तोहे राम मिलेगें
शून्य महल में दियना बारि ले आसन से मत डोल,

ब्रह्म के लिए राम शब्द का प्रयोग कुछ लोगों को चौंकाता है क्यों कि नाम तो सगुण का होता है निर्गुण का नहीं पर कबीर बड़ी सहजता से उत्तर दे देते हैं-

दशरथ सुत तिहुं लोक बखाना।
राम नाम का मरम है आना।।

मर्म शब्द का प्रयोग कबीर के राम को उनकी ही दृष्टि से देखने के लिए अभिप्रेरित करता है। राम शब्द में प्रयुक्त रकार और मकार प्रतीक है आकाश और पृथ्वी के, जिसमें सारा ब्रह्माण्ड समाहित है। कबीर के ही शब्दों में-

सहज सुन्न में सांइयाँ ताका वार न पार।
धरा सकल जग धरि रहा आप रहा निरधार।।

सबको धारणा करके स्वयं निराधार रहने वाले राम को अपने रोम रोम से अनुभव किया है कबीर ने। उनका यह राम साधनावस्था में भी उनका आलम्बन है और भावनावस्था में भी। उनका राम समस्त द्वन्दो से परे है, वह जगदीश है जो दो नही हो सकते *"भाई रे दुई जगदीश कहां ते आया"*। कबीर कहते हैं कनक तो एक ही होता है गहना चाहे जितना बना लो। ब्रह्म एक है जिसको जैसा रुचा नाम देकर पुकार लिया।

"अक्षय पुरुष एक पेड़ है निरंजन बाकी डार।
त्रिदेव शाखा भए पात भया संसार।।

कबीर का ब्रह्म जड़ चेतन सर्वत्र व्याप्त है सभी ब्रह्ममय हैं

लाली मेरे लाल की जित देखौ तितलाल
लाली देखन मै गई मै भी हो गई लाल"

जीव – जीव जगत का ही अंश है उस अक्षय पेड़ का ही एक पात है, उस सर्व व्यापक लाली का ही एक अंग है। जीवात्मा में ही परमात्मा प्रकाशित होता है। सत परम्परा में जीव और ब्रह्म को अभिन्न माना गया है। ब्रह्म रूपी सागर की जीव एक तरंग है, जल और तरग मे भेद क्या? कबीर के ही शब्दों मे "दारियाव और दरियाव की लहर में भिन्न कोयम" कबीर की निम्न साखी इसी अभिन्नता की प्रतिपादक है उन्होंने कहा है-

जल में कुम्भ कुम्भ में जल है बाहर भीतर पानी।
फूटा कुम्भ जल जलहि समाना यह तथ कथौ गियानी।।

कबीर ने इस सीधे से बोध गम्य उदाहरण द्वारा आत्मा और परमात्मा के अद्वेत को निरूपित कर दिया है। नदी के जल में घड़ा है और घड़े में नदी का जल है, घड़े

के फूटने पर दोनो जल एक हो जाते हैं। ईश्वर का अंश जीव रूप में जगत में आता है काया की माया में, माया के घन अंधकार में जीव भटक जाता है, अपने मूल परात्पर ब्रह्म से दूर छिटक जाता है किन्तु जब सदगुरू की कृपा से दीपक हाथ में आ जाता है तो द्वैत मिट जाता है। सृष्टि के मूल ब्रह्म के सम्बन्ध में वेदों उपनिषदों से ही ज्ञान मथन आरम्भ हुआ और अन्तत. जिज्ञासु को नेति नेति कह कर मौन हो जाना पडा पर सन्तो ने यह गांठ खोल ली " अहं ब्रह्मस्मि कह कर" अनंअलहक" कह कर "जो तू है वही मैं हूं" कह कर। आत्म चेता कबीर बडे विश्वास से कहते हैं-

राम मरै तो हम मरै नातर मरै बलाय,
अविनाशी का चेटवा मरै न मारा जाय,

यदि ब्रह्म अविनाशी है तो जीव भी अविनाशी है। कबीर ने अपनी सहज समाधि मे जीव और ब्रह्म को लेकर जो गहन मंथन किया, ज्ञान की आंखों से जिस प्रत्यक्ष देखा और आत्म अनुभूति को जिस सुगमता से व्यंजित किया है वह अदभुत है, अभूतपूर्व है। कबीर जन जन के मन में घुमड़ने वाले इस प्रश्न को स्वयं से पूछते है - *कहां से आया जीव यह किसमे जाय समाय?*

कबीर का सहज चिन्तक मन उत्तर भी खोज लाता है-

"सिरगुन आया जीव यह निरगुन जाय समाय"

कबीर का विचार मन्थन आगे चलता है, प्रश्नों की झड़ी लग जाती है

"कौन जगावे ब्रह्म को, कौन जगावे जीव,
कौन जगावे सुरति को, कौन मिलावे पीव"।।

पारमार्थिक जाग्रति – जिज्ञासु मन में जब प्रश्न उठते हैं तो समाधान भी खोज लेते हैं। कबीर ने पल पल उठने वाले इन प्रश्नों का अपने ढंग से समाधान भी खोज लिया है। मिलन की उत्कंठा वियोग जन्य होती है, वियुक्त होने पर ही तो संयुक्तता का अस्तित्व है। ब्रह्म से जीव अलग होकर उसे पाने के लिए उसमें समाने के लिए इच्छुक ही नहीं प्रयत्नशीनल भी होता हैं। कबीर कहते हैं-

विरह जगावे ब्रह्म को ब्रह्म जगावे जीव,
जीव जगावे सुरति को सुरति मिलावे पीव"

विरह की अनुभूति ही मिलन की लालसा जगाती है। ब्रह्म से वियुक्त हो जान का परिबोध जिस क्षण जीवात्मा को होता है,वही क्षण जीव की पारमार्थिक जागृति का होता है। कबीर के अनुसार सुरति ही जीव को पीव से मिलाती है । फलतः जीवात्मा में जागृत मिलन की उत्कंठा सुरति साधना में रत हो जाती है और अन्ततः यह **सुरति**

विन्दु ही आत्मा परमात्मा का मिलन बिन्दु बन जाता है इसी बिन्दु मे अद्वेत का अकुर फूटता है।

सुरति-एतिहासिक विकासक्रम –ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में संत साधना में सुरति का प्रवेश एक लम्वी परम्परा का द्योतक है। यह परम्परा उपनिषदों से आरम्भ होकर वण्णव भक्ति आन्दोलन तक चली आती है, भिन्न भिन्न अर्थो और भिन्न- भिन्न रूपों मे स्वयं कबीर ने सुरति शव्द का प्रयोग कई अर्थों में किया है। सामान्यतः विद्वान सुरति शव्द को संस्कृत के स्मृति श्रुति का अपभ्रष्ट प्रयोग ही मानते हैं। परवर्ती आचार्यो ने सु+रति = सदविलास क्रीड़ा में ही अर्थ केन्द्रित कर दिया है किन्तु संत साधना में सुरति का अर्थ फलक वहुत विस्तृत है। सिद्ध, नाथ और संत इन तीनों की साधना मे सुरति अपरिहार्य अंग के रूप में प्रयुक्त है। सिद्धों ने निर्द्वन्द भाव से सुरति का प्रयोग ''कमल कुलिश योग'' के रूप में किया है जो प्रकारान्तर से मैथुन क्रीड़ा का ही वोधक है। सिद्ध सारहपा इस बिन्दु पर स्पष्ट हे *" कमल कुलिश वेवि मज्झठिअ जो से सुरअ विलास"*। नाथ सम्प्रदाय के आते आते सुरति के अर्थ में स्पष्ट परिवर्तन हो गया। अलख निरंजन के साधको ने अपने साधना दर्शन से सुरति के रति विलास अर्थ को वहिष्कृत कर दिया किन्तु शव्द नही छोड़ा। गोरख नाथ की गोरखवानी में सुरति का प्रयोग श्रुति के अर्थ में किया है, श्रुति अर्थात व्रह्मनाद। कतिपय आचार्यों ने नाथ सम्प्रदाय के उद्भव और विकास की मीमांसा करते हुए यहाँ तक कह दिया है कि नाथ साधना का एक नाम *''शव्द सुरति योग'' भी था। इतना तो स्पष्ट है कि सुरति शव्द की डोर रंग वदलते हुए सिद्धों से नाथों में आ गई। गोरख - मछन्दर संवाद में तो सुरति निरति दोनो की ही व्याख्या की गई है। नाद जव तक अन्तस्थ रहता है वह सुरति हे, अनहद नाद है पिण्ड और व्रह्माण्ड दोनो में व्याप्त किन्तु निरति निरवलम्वता की स्थिति है।*

सुरति-निरति – संत साधना का प्रत्यक्ष सम्बन्ध नाथ साधना से है अतः संतों में सुरति निरति का प्रयोगात्मक संक्रमण स्वाभाविक था। संतो के अग्रगणी कवीर ने तो सुरति का प्रयोग वहुतायात से किया है और वह भी भिन्न भिन्न अर्थो में, अन्य संत कवि भी पीछे नहीं रहे हैं। कवीर ने श्रुति के अर्थ में ही सुरति का प्रयोग करते हुए लिखा है-

''सुरति समानी निरति में अजपा माहै जाप''

इसी प्रकार कवीर 'स्मृति' के अर्थ में सुरति का प्रयोग करते हुए लिखते हैं-

नर के संग सुआ हरि बोले हरि परताप न जानै।

जो कबहू उड़ि जाय जंगल में बहुति सुरति नहि आनै।।

स्पष्टतः कबीर ने इस दोहे में सुरति का प्रयोग स्मृति के अर्थ में किया है वही दूसरी ओर निम्न पद मे कबीर सुरति शब्द का प्रयोग ध्यान के अर्थ में कहते हे

दरमांदा ठाढ़ो दरबारि।

तुम बिन सुरत करै को मेरी दरसन दीजै खोलि किवार।।

संतो द्वारा इन विविध अर्थो में सुरति का प्रयोग आकस्मिक प्रयोग है कोई सोचा समझा सुचिन्तित प्रयोग नहीं है । सुरति का यह विविध प्रयोग दर्शनिक साधना पद्धति का अंग नहीं है वस्तुतः सुरति जहां परात्पर ब्रह्म से जीव के प्रेम का परिचय देती है या चिन्मय प्रीति संकेतित करती है वहीं सुरति का संतीय प्रयोग सार्थक होता ह। चिरन्तन की अनुरक्ति क्षणभंगुर जगत से विरक्ति का परिचायक है। **यह विरक्ति ही निरति है।** शाश्वत का अनुराग नश्वर के प्रति विराग का जन्मदाता है। जगत माया का विस्तार है, इस से निरत हो कर ही चिन्मय की सुरति में साधक लीन हो सकता है। इसी लिए सन्त साहित्य में ''सुरति निरति परचा'' का सैद्धान्तिक महत्व है। कबीर के ही शब्दों में-

सुरति समानी निरति में निरति रही निरधार।

सुरति निरति परचा भया तब खुल गया सिंभु दुवार।।

सुरति और निरति के क्रम को लेकर भी विचारकों में थोड़ा मतभेद रहा है ससार से निरत हुए विना जीव को सुरति नहीं मिलती। संत सम्प्रदाय में नाथों की भाति सदगुरू का महत्व चिन्मय से कम नहीं है। कबीर ने यत्र तत्र सर्वत्र ही सदगुरू का महत्व निरूपण किया है। सदगुरू ज्ञान दीप जल कर संसार की निःसारता दिखाता है निरति जगाता है, फिर साधक को सुरति में समाने की प्रेरणा देता है। परिणाम स्वरूप जीव और ब्रह्म एकमेव हो जाते हैं। ईश्वर का अनन्त, अनश्वर, सीमातीत रूप साधक का दिख जाता है। कबीर ने तो कह भी दिया है-

हदि छाँड़ि बेहद गया सुन्नि किया अस्थान,

कँवल जो फूल्या फूल बिन को निरखै निजदास।

सीमा में असीम का दर्शन कर, अवतरण कर स्वयं भी असीम हो जाना द्वैत म अद्वैत की क्रिया का पूर्ण होना ही है । चिन्मय की इस सुरति या प्रीति ने ही कबीर की नाथ पंथीय हठयोगी साधना पर अलौकिक प्रेम का ऐसा मधुवेष्टन किया कि कितन ही आलोचक विचारक कबीर पर सूफी प्रेम भावना और प्रेम की पीर का ताना वाना बुनने लगे। सत्य तो यह है कि सुरति डोर' में बंधा जीव ही चिन्मय की अनुरक्ति में मायामुक्त होने का उपक्रम करने लगता है। योग साधकों की यह सुरति डोर बौद्ध

दर्शन के स्मृति रज्जु का ही लोक रूप है कबीर ने तो दोहों और पदों दोनों में ही मन को सुरति डोर म कस कर इन्द्रिय निग्रह ओर सयमन करने का संदेश दिया है "**जतन बिन मिरगिन खेत उजारै**" पद इसका उदाहरण है। कबीर का यह कहना कि "**माया महाठगिनी हम जानी**" उनके उस विश्वास को प्रकाशित करता है जहा जगत माया के विस्तार से अधिक कुछ नहीं है। जगत का सार तत्व तो केवल ब्रह्म है शेष तो विषय विस्तार है जो "थोथा" है और जिसे योग की आंधी मे उड़ा देने मे ही कल्याण है।

जगत – जगत कबीर की दृष्टि मे केवल मृग मरिचिका है, विषयों का सागर है। इसे पार करने के लिए सुरति निरति की तरिणी आवश्यक है। जगत क्या है यह दार्शनिकों के लिए अपने अपने ढग से विचार का विषय रहा है। कबीर के शब्दो म-

संसय खाया सकल जग संसा किनहु न खद्द।
जे बेधे गुरु अक्खरां ते संसा चुनि चुनि खद्द।।

गुरु के शब्द ही विषयो के जाल को छिन्न भिन्न कर जीवात्मा को मुक्ति मार्ग दिखा सकते हैं। संसार को कबीर बाजीगरी मानते हैं, जो मात्र आंखों का भ्रम है-

जीवन की आसा नहीं जग निहारे सांसा।
बाजीगरी संसार कबीर चेति ढारि पासा।।

संसार की निःसारता को समझो, मिथ्या के मोह मे मत भटको, सत्य का पथ पकड लो। जगत के सम्बन्ध में कबीर की उक्तियों से स्पष्ट है कि वह "जगतानुबोध को आवश्यक मानते थे। शून्यवादियों की तरह उन्होंने बार बार जीव का प्रबोध किया है। ससार का वास्तविक ज्ञान प्राप्त कर भ्रान्तियों से मुक्त होने का आग्रह किया है।

कबीर संसय दूरि कर जनम मरन अरु भरम।
पंच तत्व तत्वों मिला सुन्न समाना मरम।।

शून्य के इस मर्म को जान लेने में ही जीव का कल्याण है कबीर के चिन्तन दर्शन पर पूर्ववर्ती धारओं का कुछ न कुछ प्रभाव था इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता। जगत के सम्बन्ध में सिद्धों की स्पष्ट अवधारणा थी 'दोहा कोष' में कन्ध (स्कन्ध) भूअ (भूत) आअतण (आयतन) इंदी (इन्द्रीय) के चेतना प्रवाह को ही संसार बताया गया है। इसी प्रवाह के कारण ही संसार को "भवनदी" या भवसागर शब्द दिया गया है। यह भूत ही भव का आधार है। सिद्ध सरहपा ने ४ भूतों पृथ्वी, जल, तेज और वायु का कथन किया है। तो सिद्ध कण्हपा ने चार के इस क्रम में गगन का समावेश करके पच भूतों को जगत का आधार बताया है। इन्द्रियाँ और उनके विषयों को भी इन्ही पचभूतों से जोड़ दिया गया है चर्यापदों में। कबीर ने भी पंचभूतों और पंचेन्द्रियो का
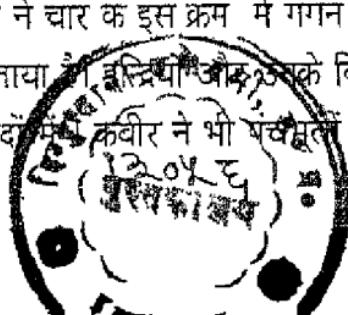
बहुधा वर्णन किया है

बूझौ करता आपना मानो बचन हमार।
पंचतत्व के भीतरै जाका यह संसार।।

इन्हीं पंच भूतों में पिण्ड और ब्रह्माण्ड की एक रूपता समाई हुई है। 'ब्रह्मसत्य जगत मिथ्या' की भारतीय दार्शनिक परम्परा को कुछ थोड़े से रूप परिवर्तन के साथ कबीर ने भी अपनी अभिव्यक्तियों में गूंथ दिया है ब्रह्म बोध सत्य है और विषय वासनाओं का आगार जगत अज्ञानी मन की एक भ्रान्ति है । ज्ञान का प्रकाश मिलते ही अविद्या का, अज्ञान का अन्धकार छंट जाता है। आंधी का रूपक बांधते हुए कबीर कहते हैं-

संतो आई ज्ञान की आंधी,
भ्रम की टाटी सबै उड़ानी माया रहे न बांधी।
हित चित की द्वै थून गिरानी मोह बलीडा टूटा
त्रिस्ना छानि परी घर ऊपरि कुबुधि का भाण्डा फूटा
आंधी पाछे जो जल बूठा प्रेम हरि जन भीना
कहे कबीर भान के प्रगटे उदित भया तम खीना।।

इस एक पद में ही कबीर ने मनुष्य के चित्त में व्याप्त भ्रम,विषय,वासना,मोह,तृष्णा, अविधा आदि सांसारिक प्रपंच के ज्ञान के प्रकाश में तिरोहित हो जाने की बात कही है। माया का वन्धन टूटते ही अमर प्रेम की रसधार मे साधक का मन डूब जाता है।

माया – कबीर द्वारा वर्णित जागतिक प्रपंच का मूल आधार माया है। भारतीय धर्म दर्शन में माया शब्द विद्वानों के विचार विमर्श और मत वैचित्र्यका विषय रहा है। यदि माया शब्द का अर्थ वैदिक परम्परा के सन्दर्भ में करें तो स्पष्टतः ऋगवेद और यजुर्वेद में माया को इन्द्र की शक्ति के रूप में परिभाषित किया गया है। किन्तु एतिहासिक विकास क्रम में इसके प्रतीकार्थ बदलते रहे हैं। उपनिषद साहित्य में तो माया को "ब्रह्म की सहचरी" तक का महत्व प्राप्त हुआ है फलतः माया का अर्थ फलक विस्तार लेता गया। संसार की बीजशक्ति माया को ही माना गया है। माया से संयुक्त हो कर ही ब्रह्म जगत का कारण बनता है। साहित्यकोश में ऋगवेद सं १०/१२९ के संदर्भ में माया को परिभाषित करते हुए लिखा गया है कि "हिरण्यगर्भ शब्द से ब्रह्म के इसी रूप को संज्ञित किया जाता है । माया त्रिगुणात्मिका भावरूप अज्ञानमय तथा अनिवर्चनीय है, यह सत असत् किसी भी रूप में वर्णित नहीं हो सकती। कार्यों के द्वारा ही माया का अनुमान होता है।"

वेद उपनिषद आदि में माया का अर्थ गर्भत्व कितना भी गहन क्यों न रहा हो किन्तु

लोक जीवन ने माया सासारिक भ्रम और अज्ञान का ही पयाय बन गइ   माया एक ऐसा जागतिक प्रपंच है जिसकी परिणति मिथ्यत्व में ही होती है। अद्वैत दर्शन मे ब्रह्म की एकमेव सत्यता स्थापित कर जगत के मिथ्यत्व को ही प्रकाशित किया गया है। माया मृग मरीचिका का ही पर्याय है। द्वैतवाद. विशिष्टाद्वैत और शुद्धाद्वैत तक पहुंचते पहुचते माया ने अनेक मोड़ लिए। सत्य रूप में आभासित हो कर जीवात्मा के आकर्षण का केन्द्र हे माया। स्पष्टतः आभास शव्द में विभ्रमात्मकता छिपी रहती है। रस्सी में साप का आभास मात्र आभास है यथार्थ नहीं किन्तु जो सांप सांप कहकर भय से चीख उठता है उसके लिए रस्सी का सांप भी यथार्थ है। अनुभवात्मक यथार्थ परिवोधात्मक यथार्थ नहीं है। यर्थाथ के इसी परिवोध के लिये ज्ञान और गुरु की आवश्यकता होती है।

भक्ति की चाहे सगुण धारा हो या निगुर्ण धारा गुरु और ज्ञान दोनों का अप्रतिम स्थान रहा है। मध्य युगीन भक्ति धारा का मूल सत्य था ***"गुरु बिन ज्ञान न होई"*** अतः सभी सन्तों ने गुरु की महिमा का गान किया।

तुलसी यदि

" बन्दौ गुरु पद पदुम परागा। सुरूचि सुवास सरस अनुरागा।।

कहते हैं तो कवीर ....

गुरु गोविन्द दोनो खड़े काके लागूं पाय,
बलिहारी गुरु आपणौ जिन गोविन्द दियौ बताय।
सतगुरु की महिमा अनंत अनंन्त किया उपगार
लोचन अनन्त उघाड़िया अनंत दिखावण हार।

और जायसी ***"बिन गुरु जगत को निरुगुन पावा"*** कह कर गुरु की महत्ता प्रकाशित करते है। वस्तुतः गुरु से ही ज्ञान मिलता है। और ज्ञान से ही भगवान का साक्षात्कार होता है। गुरु के अभाव मे ही तो अज्ञान और अविधा का अस्तित्व है। यह अज्ञान और अविधा माया से भिन्न नहीं है।

हिन्दी साहित्य के आदिकाल में सिद्ध, नाथ और सन्त मत का विवेचन मिलता है। जिसका परवर्ती साहित्यकारों पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा हैं **अविधा, अज्ञान अंधकार और प्रपंच का प्रतिरूप माया** सभी के विचार का विपय रहीं है। सिद्ध साहित्य पर वौद्ध दर्शन का स्पष्ट प्रभाव था। महायानवादियों की तरह सिद्ध भी जगत के सभी पदार्थो को "मायोपम" ही मानते हैं। वौद्ध माया का अर्थ अतात्विक, असार, असत स्वप्न, भ्रम, वंचना आदि अनेक रूपों में करते हैं सिद्धों ने वौद्धों के कार्यकारण सम्वन्धी प्रतीत्यसमुत्पाद आदि तर्क वितर्क से अपने को मुक्त रखा और सीधे असार, असत भ्रम वंचना आदि के अर्थ में माया शव्द को ग्रहण किया । नाथ संप्रदाय ने

सिद्धों के अनुरूप माया को अविधा और अंधकार के रूप में ही ग्रहण किया है। शंकराचार्य के मत को वरीयता देते हुए यह माना है कि ''माया की निवृत्ति सम्भव है ब्रह्म का वास्तविक स्वरूप जाने लेने पर। संत मत अपनी सैद्धान्तिक पृष्ठभूमि में नाथ मत का ही लोकायतिक सरलीकृत रूप है। अतः मत मत में माया जागतिक प्रपंच छलना मृगमरीचिका, अज्ञान, अविद्या जीवात्मा के लिए विषयगत फांस मोहिनी ठगिनी आदि विविध रूपों में सम्मुख आई है।

कबीर माया मोहिनी मांगी मिलै न हाथ
मना उतारी जूठ कर लागी डोलै साथ।

****

कबीर माया पापिनी लोभ भुलाया लोग,
पूरा किनहु न भोगिया इसका यही वियोग।

****

कबीर माय डाकिनी सब काहू को खाय
दांत उपारू पापिनी सन्तों नियरे जाय।

गुरु के अनुग्रह से जब आत्मज्ञान हो जाता है तो अविद्या का अन्धकार दूर हो जाता है। सन्त मत के विकास क्रम में दादू, नानक का भी कम महत्पूर्ण स्थान नहीं है। किन्तु विचारकों ने कबीर को प्रतिनिधि कवि के रूप में प्रतिष्ठित किया है और इसका कारण है लोक जीवन में कबीर की अनुभूति और अभिव्यक्ति की गहनता और विस्तार।

कबीर के सन्दर्भ में माया ने शास्त्रीयता और लौकिकता दोनों को ही स्पर्श किया है। सिद्धों और नाथों की दार्शनिक आध्यात्मिक माया भी वहाँ हैं और भोले भाले जीव के लिए फंसरी बनी हुई ठगिनी माया भी वहाँ है। कबीर यदि ''रमैया की दुल्हिन ने लूटा बाजार'' कह कर दार्शनिक वितर्क जाल को संकेतिक करते है तो ''माया महाठगिनी'' कह कर विषय वासनाओं के आकर्षण में, इन्द्रिय सुख के लिए तृपित सामान्य मनुष्य की अवस्था का अंकन करते हैं। माया के अंधकार में वही जीव भटक जाता है जिसके हाथों में गुरु द्वारा दिया हुआ ज्ञान का प्रदीप नहीं होता यह दीप कोई ऐसा वैसा नहीं होता इसकी ज्योति निष्कम्प होती है अखण्ड होती है। माया की ठठाई इन्द्रीय आसक्ति की आँधी को सरलता से झेल ले जाती है। आत्मज्ञान के अभाव मे जीव का माया ग्रस्त होना सहज है। कबीर लिखते हैं-

माया महा ठगिनी हम जानी,
तिरगुन फांस लिए कर डोलै बोलै मधुरी बानी।
केसव के कंवला है बैठी सिव के भवन भवानी।
पंडा के मूरति है बैठी तीरथहूँ मैं पानी।
जोगी के जोगिन ह्वै बैठी राजा कै घर रानी।
काहू के हीरा है बैठी काहू कै कोड़ी कानी।
भगतां के भगतिन ह्वै बैठी तुरकां के तुरकानी।
दास कबीरा साहेब का बन्दा जाके हाथ बिकानी।

माया मोह मोहित कीन्हा
ताते ज्ञान रतन हर लीन्हा

अतः ऐसी स्थिति में संसार में जीव की स्थिति को प्रकाशित कर गुरु ही उद्धार कर सकता है।

जीवन ऐसो सपना जैसौ जीवन सपन समाना।
सबद गुरु उपदेश दीन्हों, तै छाडूं परम निधाना।।

क्षण भंगुर माया के आकर्षण में वंधा मनुष्य खोता ही है पाता कुछ नही-

माया का सुख चार दिन, कहँ तू गहे गमार,
सपने पायो राजधन, जात न लागे बार,

फिर भी अज्ञानी जीव दीपक के शलभ की तरह सम्मोहन में वँधा अपनी आहुति चढाता रहता है। कवीर ने माया के रूप, कार्य कलाप प्रभाव और परिणाम पर बडे विस्तार से चिंतन किया है और फिर जीव को उद्धार के लिए अपनी वानियों में गूथ दिया है। माया को तिरगुनी फांस के रूप में विविध रूप में उजागर किया है। कवीर के अनुसार

माया तरुवर त्रिबिध का, शोक दुःख संताप,
शीतलता सुपनै नहीं,फल फीका तन ताप।।

माया की यह फांस जिसे लगती है उसे टीस ही देती है सुख चैन ही हर लेती है फिर भी जीव समझता नहीं-

माया काल की खानि है धरै त्रिगुणा विपरीत
जहां जाय तहां सुख नहीं या माया की रीति।।

आनन्द की कामना करने वाला माया से दूर ही रहता है पतग की भांति जो भी जीव माया की चकाचौध में फंसा उसका जीवन राख हो कर रह गया क्योंकि-

माया दीपक नर पतंग भ्रमि भ्रमि मांहि परन्त
कोई एक गुरु ज्ञान तो उबरे साधू सन्त,

कबीर अपने को इस कोई में से एक मानते हैं जिन पर गुरु का वरद हस्त है। और जिनके हाथ में चिन्मय आनन्द देने वाला ज्ञान दीप हैं अत: माया की इस झूठी दीप्ति का उन पर कोई प्रभाव पड़ने वाला नहीं है । उन्हीं के शब्दों मे-

कबीर माया पापिनी फंद लै बैठी हाट
सब जग तो फन्देपड़ा गया कबीरा काट

इन पंक्तियों में कबीर का सद्ज्ञान जन्मा वही आत्मविश्वास व्यंजित होता हे जो ज्यों कि त्यों धर दीन्हीं चदरिया में व्यंजित हुआ है और जिसने आचार्य रामचन्द्र शुक्ल जैसे विचारक को दम्भ का आभास दिया है । अखण्ड आत्म विश्वास की अभिव्यक्ति में गर्वोक्ति की झलक पाना "लिफाफा देख कर मजमून" भांपने वाली बात है। भांपना प्रयास हो सकता है परिणाम नहीं। *(पूज्य गुरुवर आचार्य द्विवेदी ने आलोचना के लिए गुरुमन्त्र दिया था। उनका कहना था कि आलोचना के लिए कृतियों का गहन अध्ययन और मथन आवश्यक है। सतह पर तैरते फेन को मत पकड़ो गहराई में उतरो. रत्न मिले या कंकड़ पर वह तुम्हारा अनुभूत सत्य होगा।)* कृति मे गहराई से उतरने के कारण आज मैं कह सकती हूँ कबीर यदि "माया का फन्दा" काट सके तो यह उनकी वैयक्तिक विशेषता थी। आस्था और विश्वास जन्य क्षमता थी कोई दाम्भिक उक्ति नहीं।

चिन्मय के साक्षात्कार के लिए आतुर प्राणी "अजर गुफा में अजर झरे' का दृष्टा श्रोता सन्त क्षणभंगुरी माया के जाल में उलझेगा ही क्यों। कबीर कहते हैं-

सन्तो आवै जाय सो माया

....

बिना विवेक सकल जग भरमैं।
माया जग भरमाया।।

माय से मुक्त होने के लिए विवेक का होना अर्थात आत्म ज्ञान का होना अति आवश्यक है क्योंकि-

माया मुई न मन मुआ, मरि मरि गया शरीर,
आशा तृष्णा न मुई, यों कथि कहैं कबीर।

माया के चक्र में पड़ने का अर्थ ही है आवागमन के चक्र में पड़ना । अत: इससे तो वही मुक्त हो सकता है जिसने "हरि अविनाशी" का सत्य प्राप्त कर लिया हो और स्वयं अविनाशी हो गया हो। **'हरि मरिहैं तो हमहूं मरिहैं, हरि न मरैं हम काहें कूं मरिहैं** इस विन्दु पर कोई विरला ही पहुंचता है पर कबीर अद्वैतता के इस

बिन्दु पर पहुंचे तभी तो कह सके? सत्य तो यह है कि कबीर ने अपनी बानियो मे माया के विविध रूपों का भली प्रकार आख्यान किया है जिसकी विवेचना शास्त्रज्ञ विविध शास्त्रों और दार्शनिक मीमांसाओं के प्रकाश में भी कर सकते हैं और लोकधर्मी जीवन के व्यवहारिक धरातल पर नित्य घटने वाली घटनाओं, उनके प्रभाव ओर परिणाम के प्रकाश मे भी कर सकते हैं। कबीर ने माया को पापिनी, ठगिनी, कामिनी रूपो में जो देखा है वह इसीलिए की-

माया के झक जग जरै कनक कामिनी लाग
कहहिं कबीर कस बांचिहौं रूई लपेटी आग।

रूई सहज ज्वलनशील है और अग्नि का धर्म है जलाना, अव आग से लिपटी रूई का जलने से वचा रहना कहां सम्भव है। जीव की अवस्था माया से लिपटी रूई की है। जो जीव व्रह्म सरोवर में आकण्ठ डूबा रहता हैं उसे माया की अग्नि स्पर्श नही करती। कवीर ने माया को स्थूल और सूक्ष्म दोनो रूपों में देखा हैं स्थूलता मृणमय जगत व्यापी है तो सूक्ष्मता मनोमय जगत व्यापी है। विपय भोग से विरत होना कुछ कठिन नही है,कठिन है भोग की वासना से विरत होना। मन में इच्छाओं का न होना ही सतो का काम्य है। कवीर ने वड़े सीधे सादे शव्दों में इस पार्थिव और अपार्थिव माया को समझाने की चेप्टा की है-

मोटी माया सब तजे, झीनी तजी ने जाय।
पीर पैगम्बर औलिया झीनी सब को खाय।।
झीनी माया जिन तजी मोटी गई बिलाय।
ऐसे जन के निकट से सब दुख गए हिराय।।

जीवात्मा के लिए माया ही अविधा है, माया ही अज्ञान है जिसे गुरु का ज्ञान मिलता है, विवेक का वरदान मिलता हैं, वही इस अन्धकार गर्त से उबर पाता है। वेदों से ले कर अव तक अर्थात निरन्तर दार्शनिक माया का निरूपण कर रहे हैं फिर भी नेति नेति के जाल से मुक्त नहीं हो पाते है। माया का विस्तार साधारण नहीं है, यह तो सुर पुर तक पहुंची हुई है व्रह्मा के घर पर व्रह्माणी है तो विष्णु के घर लक्ष्मी वन कर वैठी है, पृथ्वी की तो विसात ही क्या राजा रंक सभी इसके चेरे हैं तभी तो कवीर को "माया महा ठगिनी" कहना पड़ा। जिसे देखो वही माया माया कर रहा है। विपयी माया पाना चाहता है और ज्ञानी विरक्त भागना चाहता है पर इस माया से पार पाना सरल नहीं है कवीर कहते है-

माया पाया सब कहैं माया लखै न कोय।
जो मन से न उतरै माया कहिए सोय।

पुत्र कलत्र छांड़ कर वन भागने और धूनी रमाने से माया नहीं छूट जाती, चित्त पर चढ़ी ही रहती है यदि माया से मुक्त ही होना है तो विषयासक्ति को परमात्मा की अनुरक्ति में बदल दो। घट घट में रमे साई के दर्शन करो।" "पिण्ड और ब्रह्माण्ड की एक रूपता को समझो। आत्मा पर पड़ा हुआ अविद्या का आवरण हटा दो और सहज रूप में अन्तस्थ परमात्मा का दर्शन कर लो। कबीर ने अपनी सहज बानी में दर्शन की घुमावदार गलियों में चक्कर काटते जीव जगत और ब्रह्म जैसे जटिल तत्वों को लोक-ग्राह्य बना कर साखी सबद की पत्तलों पर परोस दिया। रुचे तो ग्रहण कर लो और सहज ही मुक्त हो जाओ। कबीर ने जीव के उद्धार के लिए सहज समाधि का ही उपाख्यान किया है " **सन्तों सहज समाधि भली**"।

सहज समाधि– अब प्रश्न उठता है कि यह सहज समाधि है क्या? कहीं ऐसा तो नहीं बौद्धों, सिद्धों, जैनियों और नाथों की ही दार्शनिक और यौगिक परम्परा का एक परवर्तित रूप हो कबीर की सहज समाधि? कबीर के सहज समाधि में निहित अपने मंतव्य का परिबोध करने से पहले आवश्यक है कि "सहज" शब्दों की तात्विकता से परिचित हो लिया जाय। जहाँ तक सहज शब्द की व्युत्पत्ति का प्रश्न है वह तो सीधे सीधे सहज (सहजायते) अर्थात जो स्वाभाविक हो नैसर्गिक हो जन्म के साथ उत्पन्न हुआ हो ही है। किन्तु मत मतान्तर से इसकी परिभाषा कुछ और है। यदि किंवदन्ति को आधार बनाएं तो आध्यात्म साधना के क्षेत्र में सहज शब्द एक चीनी साधक के "ताओ" शब्द का रूपान्तर या अर्थानुवाद है। अपने इस विचार के पक्ष में सहज साधना के मूल उद्‌गम को निरूपित करते हुए प्रबोध चन्द्र बागची ने सहज का चीनी धर्म के मूल सिद्धान्त से जोड़ा है। उनके अनुसार ताओ साधना पद्धतियाँ, सिद्धियाँ, शब्दावलि आदि बौद्ध तन्त्र से मिलती जुलती है। किंवदन्तियों से इतिहास नहीं बनते केवल बात बनती है अतः इस सिद्धि सादृश्य को केवल बात रूप में ही ग्रहण करना श्रेयस्कर होगा। हाँ 'विष्णु पुराण' में उल्लिखित सहज सिद्धि को सहज साधना का आरम्भिक विन्दु माना जा सकता है। बारहवीं शताब्दी में मिले कामरूप वाले शिलालेख में सहज का उल्लेख मिलता है वैष्णवों ने भी तो सहजानन्द, सहजगमन सहजकाया आदि शब्दों का प्रयोग किया है अतः स्पष्टतः धर्म साधना के क्षेत्र में सहज शब्द काफी पहले से वर्तमान था। हाँ विकास यात्रा में बदलते आयामों के साथ अर्थ और शब्द का प्रयोग परिवर्तित होता गया। मत्स्येन्द्र नाथ के "योगिनी-कौल-मार्ग" में भी सहज साधना समन्वित थी। नाथ पंथियों ने शिव और शक्ति के मिलन को नाद और विन्दु के मिलन के रूप में व्याख्यायित किया है। गोरखनाथ को तो विचारकों ने

सहज तत्व के व्यापारी के रूप में भी वर्णित किया है। गोरखवानी में तो सहज को परमतत्व के रूप में प्रतिष्ठित किया गया है। "ए ही पांचों तत् बायू सहज समान।" सहज साधना ही परम पद निर्वाण साधना है ऐसा गोरख मानते थे। नाथ पथ चयानुसार "ठवकि न चलवा, हवकि न वोलिवा, धीरे धरिवा पाँव, गरव न करिवा सहजे रहिवा".......... आदि सहज मार्ग पर चलने के संकेत हैं।

चीनी धर्म के ताओ, वैष्णवों के सहजानन्द, बौद्धों के वज्रयान की एक "सहज स्वभाव पद्धति सहजयान, सिद्धों की प्रज्ञोपायात्मक महासुख की प्राप्ति या महज सिद्धि नाथों की महज और परम तत्व की एक रूपता आदि को पृथक पृथक साधना पथो क रूप में न विवेचित कर यदि संतों की सहज समाधि के सामयिक विकास क्रम के रूप म ग्रहण करने का प्रयास करें तो चिन्तन विश्लेपण अधिक सुगम हो सकेगा।

संत मत पर पूर्ववर्ती सभी धर्म धाराओं और साधना पंथो का कुछ न कुछ प्रभाव पडा हे, इसे नकारा नहीं जा सकता। कवीर क्यों कि संत मत के प्रतिनिधि कवि है अतः यदि उनकी "सहज समाधि" पर प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से पारम्परिक सहज सिद्धि का प्रभाव पड़ा हो तो आश्चर्य नहीं किन्तु सच्चे संत होने के कारण कबीर न सहज साधना द्वारा ही सहज समाधि तक पहुंचने का पथ पकड़ा है। वस्तुतः उन्होने कायासाधना की अपेक्षा मनोसाधना पर अधिक वल दिया है। कवीर की यह मनोसाधना सहज स्मरण, (सुमिरन) सहज वर्णन, (सहज वानि) सहज चिन्तन, सहज दर्शन, सहज चालन, (परिक्रमा) आदि के द्वारा सहज प्राप्त बताई है। "सन्तों सहज समाधि भली"

साधो सहज समाधि भली।
गुरू परताप जा दिन ते उपजी दिन दिन अधिक चली।
जहाँ जहाँ डोलों सोइ परिकामा जो कुछ करौं तो सेवा।
जब सो वौंतो करौं दण्डवत पूजौं और न देवा।
कहौं सो नाम सुनौं सो सुमिरन खाँव पियों सो पूजा।
गिरह उजाड़ एक सम लेखौं भाव न राखौ दूजा।
आँख न मूंदौ कान न रूँधौं तनिक कष्ट नहि धारौ।
खुले नयन पहचानौं हँसि हँसि सुन्दर रूप निहारौं।।

कवीर की सहज साधना का यह जीवन व्यापी मुक्त चित्र है। प्रभु में लीन, परमात्मा मे एकाकार साधक की हर सहज क्रिया उसकी सहज साधना का ही रूप है।

सांसारिक जीवन जीते हुए भी सच्चे सन्त का मन प्रभु चरणों मे ही निवद्ध रहता है। माँ जिस प्रकार गृहप्रपंच में व्यस्त रह कर भी मन से अपने शिशु के साथ वधी रहती है, या फिर जैसे एक दूध दही वेचने वाली का ध्यान चलते बोलते हंसते खाते

भी पूरा ध्यान सर पर रखी मटकी पर केन्द्रित रहता है, ठीक उसी प्रकार सच्चे सन्त का ध्यान भी उसके राम में रमा रहता है।

सहज सहज सब कोई कहै सहज न चीन्हे कोय।
जा सहजे साहब मिले सहज कहावे सोय।।

कबीर ने स्पष्ट लिखा है कि उन्होंने राम नाम के मर्म को जान कर ही उसे सहज भाव से ग्रहण किया तभी तो सांसारिक प्रपंच मे बड़े बड़े धर्मी ज्ञानी उलझ गए पर कबीर नही-

एक न भूल, दोय न भूला भूला सब संसारा।
एक न भूला दास कबीरा जाके राम अधारा।।

कबीर की राममयता, एकनिष्ठता और सब मे अधिक जीवन की सहज क्रियाओ का समर्पण उनको सहज समाधि तक ले जाने वाला सहज साधना पथ है। इस पथ को उन्होंने आत्मानुभव से पाया है, अनुकरण से नहीं, अतः अपने साखी सबदा दोहरा'' सभी में इसे गूंथ दिया है। अनुभव की गहनता सत्य के साक्षात्कार की सीढी है। अन्तर्मन की गहराइयों में उतर जाओ और देखो अपने ब्रह्माण्ड व्यापी राम को।

कहहिं कबीर सुनो हे संतो ई सब भरम भुलाना।
केतिक कही कहा नहि माने सहजै सहज समाना।।

रहस्यवाद – तत्व दर्शन की इसी चेष्टा में कबीर ने **''घट घट में वह साई रमता''** की जो अनुभूति की और सुन्न **''महल में दियना बार ले''** का जो उपाख्यान किया उससे कबीर पर विचार करने वाले आचार्यों के हाथ में एक नया ही सूत्र आया। यह नया सूत्र था रहस्यवाद। कबीर की आत्मापरमात्मा परक उक्तियों को छीन झपट कर खींच खांच कर कभी भारतीय वेदान्त के हाते में हांक दिया गया तो कभी शंकराचार्य के अद्वैत दर्शन से जोड़ दिया गया, किसी ने एकेश्वरवाद का उल्लेख कर इस्लाम धर्म से नाता जोड दिया तो किसी ने सूफियों के भावात्मक रहस्यवाद का स्पष्ट प्रभाव देख लिया। देखने वाले ''अन्धों के हाथी'' की भांति सही होकर भी सही नही थे कबीर के ही शब्दों में कहें तो

अंधरे को हाथी ज्यूं सब कहू को ज्ञान
अपनी अपनी कहत है काकू करिए ध्यान

क्योंकि कबीर की उद्भावनाओं पर, जो उनके अनुभव का सार थीं, सही का चिन्ह लगाया जा सकता है पर कबीर जैसे जीवन मुक्त को किसी परम्परा और धारा के घेरे मे खड़ा कर देना सीधा सरल नहीं था।

कबीर की उद्भावनाओं का विश्लेषण करने से पहले आवश्यक है रहस्यवाद के उद्भव और विकास की यात्रा पर विहगम दृष्टि डाल लेना। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने रहस्यवाद को दर्शन के अद्वैतवाद का ही समरूप माना है। दर्शन के क्षेत्र मे जो अद्वैतवाद हे वही साहित्य के क्षेत्र में रहस्यवाद है। इस दृष्टि से पहले अद्वैतवाद को ही निरखना परखना आवश्यक है। अद्वय शब्द में द्वय का निषेध है। 'अ' उपसर्ग लग जाने से दो तो नहीं है पर एक भी नहीं है। बौद्ध दर्शन के शून्य वाद की नींव इसी अद्वय में प्रतीत होती है। श्री मदभाग्वत पुराण में अद्वैत शब्द का प्रयोग ब्रह्म या परमात्मा के अर्थ मे किया गया । उपनिषदों ने जिसे अद्वैत और ब्रह्म की संज्ञा से विभूषित किया है उसे ही प्रकारान्तर से परम्परा और पद्धति के आधार पर अद्वय, शून्य, युगनद्ध प्रज्ञोपाय आदि नामों से अभिहित किया गया है। सिद्ध साहित्य के सन्दर्भ में यदि इस देखे तो सहज पुरुष के ज्ञान या अनुभव को अद्वयाकार वताया गया है। सिद्धों ने तो महासुख को भी अद्वय ही माना है। अद्वैत का वीज इस आध्यात्मिक अद्वय में ही सन्निहित है। और इस अद्वेय शब्द ने ही अपने विकास क्रम मे अद्वैत का रूप ग्रहण किया है। अद्वय जहां विशिष्ट अर्थ वोधक शब्द हैं वही अद्वैत अभिमत है।

अद्वैत शब्द की दार्शनिक यात्रा पर्याप्त लम्वी हे। अद्वैत वाद के रूप में तो ऋगवेद म ही झलक दिखा चुका है। नारद के भक्ति सूत्र में इसे विशिष्ट स्थान मिला है, और धर्म दर्शन के विद्वान तो उपनिषदों को अद्वैतवाद का घर ही मानते हैं। सामान्यतः द्वैत का निषेध ही अद्वैत है किन्तु जिन्हें हम अद्वैत वादी कहते हैं उनके अनुसार सत अर्थात परम सत्ता न एक है न अनेक। उनकी दृष्टि में अगम अगोचर अचिन्त्य, अलक्षण, अवर्णनीय सत् तत्व ही अद्वैत है। यह वहुवाद से भी भिन्न है और एकत्ववाद से भी भिन्न है। हां मायावाद या विवर्त वाद से इसकी सम्बद्धता पर सन्देह नहीं किया जा सकता। अद्वैत सत में ही समस्त भूतों की सत्ता विद्यमान रहती है। सत् ही ब्रह्म है और ब्रह्म ही आत्मा है। इसे माण्डूक्य उपनिषद ने स्पष्टतः घोषित किया। उपनिषद सूत्र, भाष्य आदि ने कालान्तर में वेदान्त की संज्ञा प्राप्त की। आचार्य शंकर के भाष्यो मे अद्वैत का सुनिश्चित रूप मिलता है यद्यपि कि आचार्य शंकर ने अपने गुरु गौड़पाद को अद्वैत शिक्षा देने का श्रेय दिया है। प्रभाव किसी का भी रहा हो किन्तु भारतीय दर्शन में अद्वैत का विशद निरूपरण शंकराचार्य द्वारा ही हुआ है। अद्वैत दर्शन सम्बन्धी भाष्य रचना भी उन्होंने की और खण्डन मण्डन द्वारा बौद्ध दर्शन प्रभावित विरोधियों को परास्त करने का उपक्रम भी किया। 'अद्वैत' सिद्धान्त को तर्क की कसोटी पर लिखने परखने की एक लम्बी परम्परा बनी जिनमें उल्लेखनीय नाम हैं मण्डन

मिश्र, वाचस्पति मिश्र आदि। अद्वैत सम्बन्धी **'अद्वैतसिद्धि'** लिख कर मधुसूदन सरस्वती ने क्षेत्र में व्याप्त अनेक दार्शनिक भ्रांतियों और आपत्तियों का निराकरण किया साथ ही भक्ति को ज्ञान से समुच्चित किया। इसका परिणाम यह हुआ कि पूर्ववर्ती अद्वैतवाद की ज्ञान की शुष्कता में परवर्ती अद्वैतवादियों ने भक्ति की मधुरता रसमयता समाहित कर दी। हिन्दी के शीर्ष कवि कबीर और तुलसी दोनों में ही अद्वैत सम्बधी ज्ञान और भक्ति की गंगाजमुनी आभा झलक उठी।

हिन्दी साहित्य के संत मत पर अद्वैत दर्शन का पूर्ण प्रभाव था इसे लगभग सभी विचारकों ने मतैक्य के साथ स्वीकृत किया है। हिन्दी सन्त परम्परा के मूल में शास्त्रीय अध्ययन का अभाव था। सिद्धों और नाथों से श्रुति परम्परा के आधार पर जो छन कर आया वहीं इनकी वानियों में गुँथ गया। कबीर को हिन्दी साहित्य में अद्वैत वाद का प्रवर्तक मानना बहुत समीचीन नहीं है। सन्त काव्य के प्रतिनिधि कवि कबीर अवश्य है पर उनसे पहले सिद्ध सरहपा और गोरखनाथ की वानियां लोक भाषा में अद्वैत का संदेश जन मन तक पहुँचाने लगीं थीं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि कबीर ने परम्परा के आधार पर कम, आत्मानुभव के आधार पर अधिक अद्वैतवाद का उपाख्यान किया है उनका-

लाली मेरे लाल की जित देखू तित लाल,

लाली देखन मै गई मैं भी हो गई लाल।

जन जन की वाणी में ही नहीं मन मे भी गूंज उठा। शंकराचार्य के सूत्र ''ऋते ज्ञानात् न मुक्ति'' अर्थात सत ज्ञान के बिना मुक्ति नहीं मिलती तथा, ''अनुभव अवसानत्वात ब्रह्मज्ञानस्य अर्थात ब्रह्म ज्ञान जब तक अनुभव में नही ढल जाता तब तक मुक्ति नहीं मिलती। कबीर की अनुभूति और अभिव्यक्ति में ये दोनों सूत्र जीवन्त थे। कबीर ने अपने अनुभव के धरातल पर बड़े आत्म विश्वास के साथ एक स्थूल उदाहरण द्वारा सत में असत् के विलय और फिर उनकी अभिन्नता और एकरूपता की बात साधरण जनता के सामने रखी है-

जल में कुंभ कुंभ में जल है बाहर भीतर पानी।

फूटा कुंभ जल जलहि समाना यह तथ कथौ गियानी।।

इतिहासकार शिव कुमार शर्मा का यह कहना सटीक है कि ''सन्त काव्य में वाटिका का श्रम साध्य अथवा कृत्रिम सौन्दर्य नही है, उसमें वन राजि की प्रकृति श्री है।'' कबीर के उपरोक्त उदाहरण के सम्बन्ध में देखे तो न जाने कितने वादों के मकड़जाल मे (शून्यवाद, विवर्तवाद, मायावाद, ब्रह्मवाद आदि) उलझा अद्वैतवाद हस्तअमलकवत

प्रतीत होता है इस सन्दर्भ में निम्न उदाहरण दृष्टव्य है

सभी खिलौने खाण्ड के खाण्ड खिलौने माहि।
तैसे सब जग ब्रह्म में ब्रह्म जगत में आहि।।

दर्शन का अद्वैतही अपनी सरलता और सरसता में **साहित्यिक रहस्यवाद** है। रहस्यवाद शब्द में परोक्ष तत्व संगुम्फित है। रहस्य तो वही है जो अप्रकट हो, अभेद्य हो गुह्य हो, अदृष्य और अगम हो, और जिसे जान लेने की उत्कट जिज्ञासा ही नही तीव्र अभिलाषा भी हो। ज्ञाता के मन में जान लेने की, प्राप्त कर लेने की और उससे भी अधिक आत्मसाक्षात्कार कर उसमें एकाकार हो जाने की लालसा की अनुभूति पनपती है। और फिर उस अनुभूति की काव्यात्मक अभिव्यक्ति रहस्यवाद का रूप ले लेती है। आलोचक गंगाप्रसाद पाण्डे के अनुसार ''रहस्यवाद अन्तरात्मा की उस अन्तर्निहित प्रवृत्ति का प्रकाशन है जिससे आत्मा परमात्मा से मिलने के लिए उत्कंठित होती है अथवा ''रूह हक''बन जाने के लिए लालायित।'' सार रूप में यदि कहें तो **रहस्यवाद आत्मा और परमात्मा** के तादात्मय का प्रकाशन है। अनिवर्चनीय ओर वर्णानातीत जब अनुभूति की परिधि में आता है तो पहले तो साधक या भावक उसके अद्भुत अलौकिक रूप पर चमत्कृत होता है, अदृश्य का तेज उसे प्रभावित करता है, आकर्षित करता है ओर फिर यह आकर्षण अनुराग को जन्म देता है। अनुराग मे मिलन की उत्कण्ठा जागती है, न मिल पाने पर व्याकुलता विरह का विस्तार करती है। भावक विरह की अग्नि मे जितना तपता है मिलनानुभूति उतनी ही मधुमय हो जाती है। 'गूंगे का गुड़ बन जाती है, अकथनीय, मात्र अनुभव साध्य आनन्दक। भावनाओं के इसी बिन्दु पर पहुंच कर भावक या साधक सोऽहं, अहं ब्रह्मास्मि की बात करने का अधिकारी हो जाता है।

हिन्दी की साहित्यिक रहस्यवादी परम्परा का आरम्भ एतिहासिक सन्दर्भ में भले ही सिद्ध साहित्य से माना जाय किन्तु यह निर्विवाद रूप से मान्य हुआ हे कि सन्त साहित्य ही हिन्दी की रहस्यवादी चेतना का अभिप्रेरक है। सन्त साहित्य के मूल में नाथ सम्प्रदाय का निश्चित प्रभाव है किन्तु यदि यह कहें कि सन्त साहित्य अपने सैद्धान्तिक विकास म नाथों की ही अगली कड़ी है तो बहुत समीचीन नहीं होगा। नाथों का रहस्यवाद योग या हठयोग आश्रित है और घोर साधना सापेक्ष्य है। किन्तु सन्तों का रहस्यवाद साधना और भावना का गंगा जमुनी रूप है, सांध्य सौदर्य से समन्वित है। **योग** के आधार पर रहस्यवाद की विवेचना आवश्यक ही नही अपरिहार्य है। योग शब्द का सीधा सादा अर्थ है मिलन या सम्बन्ध। दार्शनिकों ने योग शब्द का प्रयोग जीवात्मा और

परमात्मा के मिलन या फिर मिलन प्रक्रिया आदि के अर्थ में क्रिया है. जीवात्मा परमात्मा से योग के लिए प्रक्रिया, पद्धति, प्रणाली, पथ आदि का आश्रय लेती है। भगवद गीता में ज्ञान भक्ति और कर्म योग की विस्तृत विवेचना भगवान कृष्ण ने अर्जुन के प्रबोध के लिए की है। स्पष्ट है कि योग जीवात्मा और परमात्मा का ऐक्य विधायक है। महर्षि पातंजलि ने ही सर्व प्रथम योग सूत्र की रचना की थी। उनके द्वारा योग सूत्र में दी हुई परिभाषा चितवृत्ति के निरोध को सूचित करती है ''योगश्चितवृत्ति निरोध'' जब तक लौकिक विषयों में जीव की तन्मयासक्ति रहती हैं तब तक वृत्ति के निरोध का प्रश्न नहीं उठता। चितवृत्ति के निरोध पर विचार करने के पूर्व आवश्यक है योग भेद को जान लेना। सामान्यतः पातंजलि के व्याख्यायित योग को **राजयोग** कहा जाता है। तन्त्र ग्रन्थों एवं शैव साधना से संक्रमित योग **हठयोग** कहा जाता है। धर्म साधना के क्षेत्र में राजयोग और हठयोग दोनों ही सामानान्तर चलते रहे। राजयोग का सम्बन्ध मुक्ति या मोक्ष से माना गया है। निश्चल दास ने अपने विचार सागर में राजयोग के चार सूत्रों की व्याख्या की है। उनके अनुसार ''प्रथम पद में चित्तवृत्ति निरोध, समाधि, अभ्यास वैराग्य आते है, साधन हैं यम, नियम, आसन, प्राणायाम प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि और लक्ष्य है मोक्ष यम के प्रकार पांच हैं अहिंसा सत्य, अस्तेय, अपरिग्रह, और ब्रह्मचर्य। नियम भी पांच है शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वर प्राणिधान। सुख सुविधा पूर्वक स्थिर बैठना ही आसन है। ''स्थिर सुखमासनम् श्वास प्रश्वास की गति का विच्छेद प्राणायाम हैं और विषयों से विमुख कर इन्द्रियों को निरुद्ध करना ही प्रत्याहार है। समाधि के आठ उपांगों में पांच वाह्य साधन हैं और अंतिम तीन आसन प्राणायाम और प्रत्याहार अन्तः साधन है। अब विचारणीय है हठयोग। हठयोग भी योग का ही एक प्रकार है, अतः लक्ष्य दोनों का एक ही है। चित्तवृत्तियों का निरोध और मोक्ष प्राप्ति किन्तु पद्धति में भिन्नता है हठयोगी साधना काया केन्द्रित है, इसके अन्तर्गत साधक द्वारा प्रसुप्त कुण्डलिनी को जागृत कर ऊर्ध्वमुखी करने का प्रयास किया जाता है। नाड़ी को माध्यम बना कर चक्रों का आश्रय लेते हुए साधक कुण्डलिनी को शीर्ष पर स्थित सहस्रार तक ले जाता है। कुण्डलिनी सर्पणी की भांति वलय या गुंजलक रूप में मेरुदण्ड के नीचे स्थित रहती है, जीवात्मा का ओजस तत्व इसमें ही रहता है, मेरुदण्ड में स्थित षट चक्र, मूलाधार चक्र, स्वाधिष्ठान चक्र, मणिपूर चक्र, अनहत चक्र, विशुद्धाख्य चक्र, और त्रिकुटी स्थित आज्ञा चक्र, कुण्डलिनी की ऊर्ध्व यात्रा के आयाम है। इन षट चक्रों का भेदन करने के उपरान्त ही कुण्डलिनी सातवें या अंतिम चक्र में पहुंचती है। इस चक्र को

सहस्रार चक्र कहते है। सहस्त्र दल कमल की संज्ञा भी इसे ही दी गई है। इला, पिंगला की मध्यवर्ती नाडी सुषुम्ना के पथ से कुण्डलिनी इसी सातवें चक्र तक की यात्रा पूरी करती है। योगियों ने और रहस्यवादी कवियों ने भी इसी विन्दु को गगन मण्डल, आकाश, शून्य स्थल आदि के नाम भी दिए हैं। इला पिंगला के शिखर बिंदु पर चाद और सूर्य की स्थिति मानी गई है। इला पिंगला और सुषुम्ना का त्रिवेणी द्वार ब्रह्मरन्ध्र कहलाता है। इस ब्रह्मरन्ध्र से अमृत रस टपकता रहता है। योगी योगाग्नि में अपने को तपा कर, साधना की समस्त अवस्थाओं को पार कर अन्ततः इस अमृत रस का अधिकारी हो जाता है, अमृततत्त्व को प्राप्त कर लेता है। प्राप्ति की मुख्य मुद्रा खेचरी है।

राज योग और हठ योग दोनो का ही पारिभाषिक और तात्त्विक परिचय प्राप्त कर लेने पर स्वतः स्पष्ट हो जाता है कि संत सहित्य में योग के दोनो रूप निबद्ध है। कबीर सन्त साहित्य के प्रतिनिधि रहस्यवादी कवि माने जाते हैं । रहस्यवाद का बीज जीवात्मा ओर परमात्मा के योग में ही है अतः कबीर की बानियों में योग की साधनात्मक शब्दावली तथा विविध भावनात्मक स्थितियों का सरस अंकन हुआ है। निम्नांकित एक सबद में ही कबीर ने योग की अनेक अवस्थाओं का समाहार कर दिया है-

घूंघट के पट खोले तोहे पीव मिलेगे,
घट घट में वह साई रमता कटुक बचन मत बोल रे
धन जीवन को गरब ने कीजै झूठा पंचरंग चोल रे
सुन्न महल में दियना बारि लै आसन से मत डोलरे
जोग जुगत से रंग महल में पिय पाया अनमोल रे
कहै कबीर आनन्द भयो है बाजत अनहद ढोल रे।।

''शून्य महल'' (शून्य चक्र, गगन सहस्त्रर) दियना (कुण्डली) 'आसन' अनहत् ढोल'' इत्यादि व्यंजित हैं ।

कबीर की रहस्यानुभूति – कबीर की रहस्यानुभूति के भली प्रकार भिज्ञ होने के लिए आवश्यक है भावनात्मक रहस्यवाद और साधनात्मक रहस्यवाद से सम्बन्धित उनकी उद्भावना एवं रहस्योक्तियों का पृथक पृथक अध्ययन किया जाय। कतिपय विचारकों ने कबीर के भावनात्मक रहस्यवाद पर प्रेम की पीर के गायक सूफियो के प्रभाव का उल्लेख किया है। प्रभावित होने का अर्थ मौलिकता खो देना नहीं है । सूफियों की प्रेमाभिव्यंजना फारसी प्रभाव में परमात्मा को स्त्री रूप में प्रतिष्ठित कर गतिशील होती है जब कि कबीर की अलौकिक को अर्पित प्रेम भावना परमात्मा को प्रियतम

परम पुरुष के रूप में स्थापित कर और जीवात्मा को स्त्री रूप में प्रतिष्ठित कर गतिशील होती है। अविनाशी पुरुष के दिव्य अदभुत तेज से जीवात्मा चमत्कृत हो सर्वस्व समर्पण के लिए तत्पर होती है। प्रभु की महत्ता और आत्म लघुता की अनुभूति होती है- और फिर-

हरि मेरा पिंउ मै हरि की बहुरिया।
राम बड़े मैं छुटुक लहुरिया।

कह कर कबीर 'राम की सुहागिन' बनने के लिए उत्सुक होते है क्यों कि उनकी दृष्टि में-

तन मन जीवन सौपि सरीरा।
ताहि सुहागन कहैं कबीरा।।

आकर्षण सर्मपण को प्रेरित करता है और समर्पण सुहाग का द्वारा खोलता है। आध्यात्मिक प्रेम में रंगा साधक का मन भावनात्मकता के उमड़ते ज्वार की तरंगों पर दोलायित हो प्रभु से प्रणय और परिणय के स्वप्न सजाने लगता है। 'राम देव' में भांवरी लेने के लिए उद्यत होता है। कबीर का निम्न पद उनकी इस भावना का सटीक उदाहरण है-

दुलिहिन गावहु मंगल चार
हम घरि आये हो राजा राम भरतार ।
तन रत करि मैं मन रत करिहूँ, पंचतत्त बराती ।
रामदेव मोरै पहुनै आये, मैं जोबन मैं माती ।।
सरीर सरोवर बेदी करिहूँ, ब्रह्मा वेद उचार ।
रामदेव संग भाँवरि लैहूँ, धनि धन भाग हमार ।
सुर तेतीसूँ कोटिग आये, मुनिवर सहस अठयासी ।।
कहै कबीर हम ब्याहि चले हैं, पुरुष एक अबिनासी ।।

जीवात्मा ने परमात्मा के साथ भांवर डाल ली और पलकों में प्रिय दर्शन और प्रिय मिलन के स्वप्न झांक उठे प्रियतम का आह्वाहन करते हुए कबीर कहते है-

बाल्हा आउ हमरे गेह रे।
तुम बिन दुखिया देह रे।।
सब कोई कहे तुम्हारी नारी मोकों यह सन्देह रे।
एक मेक ह्वै सेज न सोवै तब लगि कैसा नेह रे?

कबीर का एकान्तिक समर्पण रंग लाया फलतः सुहाग सेज सजाने का अधिकार अर्जित कर लिया।

'नैननि की कर कोठरी पुतली पलंग बिछाई।
पलकों की चिक डारि के पिंउ को लिया रिझाई।।

क्योंकि प्रियमिलन का यह दुर्लभ संयोग लम्वी प्रतीक्षा के वाद प्रियतम प्रभु के अनुग्रह के रूप में मिला है। कवीर कहते हैं -

बहुत दिनन मैं प्रीतम पाए।
भाग बड़े धरि बैठे आए।।
मंगलचारि माहिं मनराखौं राम रसाइण रसना चाखौं।
मन्दिर माहिं भया उजियारा लै सूती अपना पीव पियारा।।
मैं रति रासी ऊ निधि पाई हमहिं कहा यह तुमहिं बड़ाई।
कहैं कबीर मैं कछु न कीन्हा सखी सुहाग राम मोहिं दीना।।

कवीर के इस दिव्य प्रेम ने, एकान्तिक समर्पण ने उन्हे अपने साध्य पर एकाधिकार स्थापित करने के लिए यदि अभिप्रेरित किया तो अस्वाभाविक क्या है। कवीर अपने इस एकाधिकार की अभिव्यक्ति वड़ी सहजता से करते हैं-

नैनों अन्दर आव तू नैन झाँपि तोही लेऊं।
ना मै देखूं और को न तोहि देखन देऊ।।

एकाधिकार जीवात्मा और परमात्मा को अलौकिक प्रणय द्वारा तादात्मय के शिखर पर पहुंचा देता है। तादात्मय का यह विन्दु ही अद्वैत का विन्दु है वताते हुए कवीर कहते हैं-

हरि महि तनु है तन महि हरि है सरब निरन्तर सोइरे,

जल में जल प्रविष्ट हो गया अव कौन उसे अलग कर सकता है। किन्तु प्रेम चाहे लौकिक हो या अलौकिक उसकी विशुद्धता की कसौटी तो वियोग ही होता है। वियोग के अभाव में न प्रेम की गहराई का वोध होता है और न उसके विस्तार का। कवीर के दिव्य प्रेम का वियोग पक्ष बड़ा ही मार्मिक है। कवीर चेतन अचेतन प्रसुप्ति सभी में परमात्मा के प्रेम में डूवे प्रतीत होते हैं। स्वप्नावस्था की प्रेमानुभूति की व्यंजना करते हुए कबीर ने कहा है-

सुपने में सांई मिले सोवत लिया जगाय,
आंख न खोलूं डरपता मति सुपना हो जाय,

स्वप्न का यह मिलन भी यथार्थ से कम मादक नहीं है अतः अपने अलौकिक प्रिय की 'विरहणी' वने कवीर आँख नहीं खोलते किन्तु जब ऑख खुल जाती है तो कल्पना का सुख जल्पना में वदल जाता है-

आँखड़िया झाई परी पन्थ निहारि निहारि।
जीभड़ियां छाला परा राम पुकारि पुकारि।।

वियोग की अग्नि में तपाने वाला प्रियतम प्रभु भला पुकारने से क्यों आएगा, उसके लिए तो धरती आकाश एक करना होगा। कबीर कहते हैं-

परबति परवति मैं फिरा नैन गंवाया रोय।
सों बूटी पावउं नहीं जाते जीवन होय।।

निराशा तन मन को धुन रही है, आंखों से आंसु वह रहे हैं, रात दिन पिउ की रटन लगी है-

नैना नीर लाइया रहट बहै निसि धाम।
पपिहा ज्युं पिउ पिउ करौं कब रे मिलहुगे राम।।

परिणाम जो होना था वह हुआ, विरह तो क्रूर वधिक सा जीवन सत्व ही सोख लेता है। कबीर ने अपनी विरह वेदना के गाम्भीर्य को प्रतीकात्मक शैली में विह्वलता से व्यक्त किया है-

सब रग तांति रबाव तन विरह बजावै नित।
और न कोई सुनि सकै कै साई के चित।।

अलख को अलख ही लख सकता है कबीर का रोम रोम वाद्ययंत्र रबाव की तांत हो गया है, अव उस तांत से प्रेम की जो पीर झनक रही है उसे या तो कवीर सुन पाएगे या फिर अन्तस्थ ब्रह्म। विरह मे ही तो प्रेम की पूर्णता है अतः कवीर के लिए विरह ब्रह्म से कम महत्वपूर्ण नहीं है। जिस जीवात्मा को परमात्मा की प्रेमानुभूति और तदजन्य विरहानुभूति नहीं होती उसे जीवित मानना ही नहीं चाहिए। कबीर विरह का महत्त्व प्रतिपादित करते हुए कहते हैं-

विरहा विरहा मत करो विरहा है सुल्तान।
जिहिं घट विरहन संचरै, सौ घट सदा मसान।।

कवीर का यह विरह दिव्य के प्रति, अलोकिक के प्रति अर्पित विरह है। यह आत्मा और परमात्मा को एकाकार करने वाला विरह है, यही अद्वैत स्थापना की कुंजी है।

भावानात्मक रहस्वाद का भी साध्य आत्मा और परमात्मा की एक रूपता है और साधनात्मक रहस्यवाद का भी साध्य जीव और ब्रह्म का तादात्मय है। आत्मा और परामात्मा के इस तादात्मय को माधुर्य भाव से परे कबीर ने रहस्यवादी साधना द्वारा भी सिद्ध किया है। साधनात्मक रहस्यवाद ''हरि महि तन है तन महि हरि है'' की चेतना से सक्रिय होता है। काया केन्द्रित हठयोगी साधना के पथ से चलकर प्रसुप्त

कुण्डलिनी को जागृत कर साधक मूलाधार से आरम्भ कर एक के बाद एक चक्र या कमल को पार करते हुए सहस्त्रार तक पहुंच जाता है। इला पिंगला की मध्यवर्ती नाडी सुपुम्ना के द्वारा कुण्डलिनी अपने गन्तव्य तक पहुंचती है। सुन्न महल, दियना, आसन, अनहद, आदि का कवीर ने अपनी वाणी में जितना गुम्फन किया है उतना ही सोवत, नागिन, गगन गुफा, सुपमन तार, चिदानन्द आदि का भी कथन किया है।

''प्रेम पियाला पीवत लागी सोवत नागिन जागी'' कुण्डलिनी की जागृति का ही आख्यान है। कवीर ने **''अवधू मेरो मन मतवारो''** पद मे **''अजर गुफा में अमर झरै''** आदि का उल्लेख कर साधना के क्षेत्र में प्रचलित हठयोगी प्रक्रिया का परिचय दिया है। कबीर का अत्यन्त प्रचलित पद है-

झीनी झीनी बीनी चदरिया
काहे के ताना काहे की भरनी कौन तार से बीनी चदरिया
इंगला पिंगला ताना भरनी सुखमन तार से बीनी चदरिया
आठ कमल दल चरखा डोले पांच तत्त्व गुन तीनी चदरिया
साई को सियतमास दस लागै ठोक ठोक कै बीनी चदरिया
सो चादर सुर नर मुनि ओढ़ी ओढ़ी के मैली कीन चदरिया
दास कबीरा जतन से ओढ़ी ज्यों कि त्यों धर दीन्ही चदरिया

इसमें कवीर ने आत्मा परमात्मा के योग में ही आनन्द की स्थिति वताई है। यह आनन्द शून्य महल में लगाई सहज समाधि के फलस्वरूप उत्पन्न अनहद नाद हो या फिर रस गगन गुफा मे झरता अजर स्वर हो। कवीर कहते हैं-

रस गगन गुफा में अजर झरै
बिन बाजा झंकार उठे जह समुझि परै जब ध्यान धरे।
विन ताल जहं कंवल फुलाने तेहि चढ़ि हंसा केलि करे।
बिन चन्दा उजियारी दरसै जहाँ तह हंसा नजर परै।।

योग समाधि और तदजन्य आनन्द ही ब्रह्मानन्द है जो मौन भी है और मुखर भी है। हठयोग की पारिभाषिक शब्दावली कबीर के साधनात्मक रहस्यावाद में मुखरित है। ''कवल'' ''हंस'' 'केलि' 'चंदा' आदि इसके उदाहरण है। यौगिक प्रक्रिया द्वारा आत्मा मे परमात्मा का सक्षात्कार सम्भव है। परमात्मा तो आत्मा में उसी प्रकार प्रतिष्ठित है जैसे आंखों में पुतली-

ज्यों नैननि में पूतरी त्यों खालिक घट माहिं।
मूरखि लोग न जानिहैं बाहर ढूंढ़नि जाहिं।।

साधना है तो जीव और ब्रह्म का योग तो होगा ही बस आवश्यकता है चित्तवृत्ति निरोध की।

जतन बिन मिरगिन खेत उजारे,
टारे टरत नहीं निसि बासर बिडरत नहीं बिडारे
अपने अपने रस के लोभी करतब न्यारे न्यारे
अलि अभिमान बदत नहि काहू बहुत लोग पयि हारे
बुधि मेरे किरषी गुरु मेरा बिझुका अक्खर दोउ रखवारे
कहत कबीर अब चरन न देहि हौं बेरियां भली संभारे।।

इन्द्रियासक्ति मनुष्य को विषय वासनाओं के जाल मे उलझाती हैं। यत्न के अभाव में इन्द्रिय रूपी मृग विषयों का चारा चरने लगते हैं, काया की खेती उजड़ जाती है। कबीर जीवन की खेती उजड़ने नहीं देगे क्यों कि वह जानते हैं बिना यौगिक यत्न के निरोध सम्भव नहीं है। अतः कबीर ने ज्ञान दीप जला कर अन्तः स्थित ब्रह्म से नैकटय स्थापित कर लिया है-

गंग जमुन के अंतरै सहज सुन्नि लौ घाट।
तहां कबीर मठ रचा मुनि जन जोवै बाट।।

उनके अनुसार इला पिंगला (गंगा जमुना की मध्यवर्ती) नाड़ी सुषुम्ना पर सहज शून्य का घाट है वहीं उनका मठ है उस मठ में उनका निवास है, उन्हें तो ब्रह्म मिल गया उस मठ में जहां पहुंचने के लिए ऋषि मुनि अभी प्रतीक्षा रत हैं। कबीर साधना द्वारा अद्वैत की उस परमावस्था तक पहुंच गए जो सभी साधकों का अभीप्सित होता है। अनहद ढोल बज रही है और कबीर आनन्द मग्न हैं-

कबीर सबद सरीर में बिन गुन बाजै तांति।
बाहर भीतर रमि रहा तातै छूटी भरांति।।

बाहर भीतर सर्वत्र अनहद नाद गूंज रहा है। अभीष्ट मुक्ति मिल गई है। कबीर दास की द्वै-पक्षीय, भावना और साधना युक्त रहस्यानुभूति का अनुबोध कर लेने पर स्पष्ट हो जाता है कि पथ चाहे कोमल हो या परुष लक्ष्य एक ही है और वह है अद्वैत,आत्मा से परमात्मा का योग। लक्ष्य स्पष्ट होना चाहिए पथ का क्या, राजपथ मिले तो भी ठीक, पगडण्डी मिले तो भी ठीक, लक्ष्य तक पहुंचने के लिए कूदना फांदना और छलांगना पड़े तो भी ठीक। यही कारण है कि कबीर कहीं भटके नहीं, पथ को ले कर अटके नहीं बस निरन्तर चलते रहे। उन्हो ने जो चाहा वह मिल गया –

अब मैं पाइबो रे पाइबो ब्रह्म गियान ,
सहज समाधे सुख में रहिबो कोटि कलप विश्राम ।

इस पर भी यदि कबीर साहित्य के अध्येता, विचारक और आलोचक, सिद्ध, नाथ, सन्त, निर्गुण, सगुण, वैष्णव, शैव और शाक्त जैसी वीथिकाओं में उन्हें **निर्भय** और उनके ही शब्दों में **"मनुआ बेपरवाह"** रहते देख कर चौंक उठें और टिप्पणी करे तो करें, कबीर को उनसे क्या लेना देना, उन्हें तो अपनी बात कहना है और चलना है। चलने के लिए पथ की अनुकूलता और बात कहने के लिए पात्र की अनुकूलता ही वांछित है। गंगा जल तो गंगाजल ही रहेगा चाहे नीली, पीली लाल हरी किसी भी रंग की बोतल में उसे क्यों ने भरे। कबीर तो गंगाजल हैं, भरते रहिए "प्रभाव" की बोतलों में। टोपियॉ बदलते रहने से सिर तो नहीं बदल जाता कबीर बस कबीर हैं।

गुरु सम्बन्धी अवधारणा- ब्रह्म जीव और माया की शास्त्र सम्मत सैद्धान्तिक और कबीर सम्मत व्यवहारिक विवेचना के उपरान्त यह अवश्यक हो जाता है कि कबीर की गुरु सम्बन्धी भावना का परिवेक्षण किया जाए। यों तो भक्ति की चाहें ज्ञानाश्रयी शाखा हो या प्रेमाश्रयी, रामाश्रयी शाखा हो या कृष्णाश्रयी, गुरु का अप्रतिम महत्व सभी भक्तों ने प्रतिपादित किया है किन्तु गुरु के सम्बध में कबीर की दृष्टि का अपना अलग ही महत्व है। कबीर की बानियों में ज्ञान दाता के रूप में तीन शब्दों का प्रयोग हुआ है यह तीनों शब्द पर्यायवाची न होकर भिन्न अर्थ के प्रतिपादक है। गुरु, सदगुरु और गुरूवा कुछ विशिष्ट संदेश देते प्रतीत होते हैं। वस्तुतः गुरु की लौकिकता है तो दीक्षा गुरु तक और अलौकिकता है तो ब्रह्म तक जो सदगुरु का समानार्थी है। कबीर ने पूरे विश्वास के साथ कहा है-

गुरु बिन ज्ञान न ऊपजै गुरु बिन मिलै न मोष।
गुरु बिन लखै न सत्य को गुरु बिन मिटै न दोष।।

इस एक साखी में गुरु की, जीवन में अपरिहार्यता सिद्ध की गई है। गुरु के ज्ञान के अभाव में सत्य का खोजी मनुष्य सत्य का दर्शन नहीं कर सकता और सत्य दर्शन के अभाव में मोक्ष नहीं मिल सकता। अतः मोक्षार्थी के लिए गुरु परमावश्यक है। गुरु की कृपा होगी तभी ब्रह्म (सद्गुरु) के चरणों में वास मिलेगा।

ज्ञान समागम प्रेम सुख दया भक्ति विश्वास।
गुरु सेवा ते पाइए सदगुरु चरण निवास।।

एक ही साखी में गुरु और सद्गुरु शब्द का प्रयोग भिन्नार्थ का व्यंजक है। सामान्यतः साहित्य वेत्ताओं ने गुरु और सदगुरु शब्दों में अर्थ सामीप्य देखा हैं अर्थ विस्तार नहीं-

सद्गुरु के परताप ते मिटि गयो सब दु.ख दद।
कह कबीर दुविधा मिटी गुरु मिलिया रामानन्द।।

इस साखी में सद्गुरु और गुरु का प्रयोग भिन्न अर्थ में हुआ है ।

कबीर की चिन्तना में गुरु माध्यम है सदगुरु तक पहुंचने का। कबीर ने वार वार दोहराया है-

पंडित पढ़ि गुनि पचि मुए, गुरु बिन मिलै न ज्ञान।
ज्ञान बिना नहि मुक्ति है सत्त शब्द परमान।।

मुक्ति की आकांक्षा रखने वाले सन्त को गुरु के ज्ञान की महान आवश्यकता होती है। बिना गुरु के ज्ञान और अनुग्रह के जीवात्मा का उद्धार नहीं हो सकता-

करै दूरि अज्ञानता, अंजन ज्ञान सुदेय।
बलिहारी वे गुरुन की हंस उबारि जो लेय।।

इसीलिए कबीर ने गोविन्द से अधिक गुरु को सम्मान दिया है क्यों कि एक के अभाव में दूसरे का बोध संदिग्ध था।

आत्मा में निहित परमात्मा के साक्षात्कार में ही सतगुरु की प्राप्ति सन्निहित है। सदमार्ग पर चलाने वाला सदगुरु आत्मस्थ होता, पल पल अन्तर्आत्मा से अनुदेश शिष्य को प्राप्त होते रहते हैं-

सतगुरु तो सतभाव है जो अस भेद बताय,
धन्य शीष धन भाग तिहि जो ऐसी सुधि पाय,

बिरले ही लोग ऐसे भाग्यशाली होते हैं जिन्हें सतगुरु के सतभाव की प्राप्ति होती हैं। अतः यदि जीव वस्तुतः मोक्ष को प्राप्त करना चाहता है तो उसे सतगुरु के उपदेश की प्रतीति करनी होगी। गुरु के द्वारा थमाए हुए दीपक के प्रकाश में सदगुरु का साक्षात्कार सम्भव है। कबीर आत्मानुभव के आधार पर आदेश देते हुए से कहते है-

सतगुरु खोजो संत जीव काज जो चाहहु।
मेटो भव को अंक आवागमन निवारहू।

आवागमन के निवारण में ही मुक्ति का रहस्य छिपा हुआ है। सन्त बिना सतगुरु के मात्र साधना के बल पर संसार सागर से पार नहीं हो सकता। मुक्ति जैसे सत्य तत्व का दाता तो सदगुरु ही है।

गुरु और सदगुरु सम्बन्धी कबीर की बानियों से जो सहज निष्कर्ष निकलता है वह यह कि गुरु में स्थूलता हैं तो सदगुरु में सूक्ष्मता हैं और सत्य की ओर उन्मुख, सत्य का अन्वेषी सन्त सूक्ष्म चेतना से ही इस सूक्ष्मता में एकाकार हो सकता हे।

गुरुवा शब्द का प्रयोग कबीर के सत्यभाषी व्यक्तित्व की अपनी विशिष्ट मौलिकता

का परिचायक है. विवेच्य शब्द गुरुवा भाषा की भ्रष्टता में अर्थ की भ्रष्टता भी लिए हुये हैं। गुरु के नाम पर जनमानस में धर्म भीरूओं में व्याप्त अज्ञानता पर चिढ़ कर ही कबीर ने गुरुवा का प्रयोग किया है कबीर का कहना है कि गुरु जान कर करना चाहिए और पानी छान कर पीना चाहिए। अब यदि केवल ज्ञान को परखे बिना ढोंगी ओर अज्ञानी, लोभी और आडम्बरी को गुरु बना लिया जाता है तो परिणाम स्पष्ट है-

जाका गुरु है आंधला चेला खरा निरंध।
अन्धें अन्धा ठेलिया दोनों कूप पड़न्त।।

ऐसे अन्धे शिष्य को काल के फन्दे में पड़ने से रोक ही कौन सकता है। अन्धा अन्धे को क्या राह दिखाएगा? इसलिए कबीर सावधान रहने की चेतावनी देते हैं कि यति का भेष बना कर घर घर भीख मांगने वाला गुरु, गुरु नहीं होता-

पूरा सतगुरु न मिला सुनी अधूरी सीख।
स्वांग यती का पहन के घर घर मांगी भीख।।

इस कोटि का गुरु कबीर की दृष्टि में गुरु नही गुरुवा है। वह निःशंक भाव से कहते है-

गुरुवा तो सस्ता भया कौड़ी अर्थ पचास।
अपने तन की सुधि नहीं शिष्य करन की आस।।

इतना ही नहीं-

गुरुवा तो घर घर फिरै दीक्षा हमारी लेहु।
कै बूड़ौ कै ऊबरौ टका परदनी देहु।।

गुरुवा का नाता न तो ज्ञान से है और न शिष्य के उद्धार से है। शिष्य चाहे डूबे या उबरे उसे तो केवल टका चाहिए। इस कोटि के गुरु के लिए कबीर का 'गुरुवा' सम्बोधन अत्यन्त सटीक है अब इसके लिए चाहे कोई उन्हें अक्खड़ कहे या फक्कड। वह तो सत्य दृष्टा है। सत्य देखेंगे भी और सत्य दिखाएंगे भी-

गुरु गुरु में भेद है गुरु गुरु में भाव।
सोई गुरु नित बन्दिये सबद बतावे दाव।।

यदि गुरु ही करना है तो खूब सोच विचार कर कीजिए जिसके शब्द मुक्ति का पथ दिखा सके वही गुरु वन्दनीय है कबीर के अनुसार-

सदगुरु ऐसा कीजिए लोभ मोह भ्रम नाहिं।
दरिया सो न्यारा रहे दीसे दरिया माहि।।

कमल पत्र की भांति जल में रहकर भी जल के प्रभाव से मुक्त हो, देह में र. कर भी विदेह हो। ऐसा गुरु ही, शिष्य को आत्म ज्ञान दे सकता है, उसके जीवन क

दिव्य पारमार्थिक प्रकाश से भर सकता है जिसे ऐसे सदगुरु की प्राप्ति हो जाती है उसे दिव्य प्रकाश मिल जाता है, देह गेह ज्योतिमान हो उठते हैं, भीतर बाहर ज्योति जगमगाती रहती है, वाह्य प्रकाश की आवश्यकता शेष नहीं रह जाती। कबीर का स्पष्ट मत है कि-

चौंसठ दीवा जोय के चौदह चन्दा माहिं।

तेहि घर किसका चांदना जिहि घर सतगुरु नाहि।।

शिष्य के लिये सदगुरु का मिलना ही दिव्य प्रकाश का मिलना है।

कबीर की आध्यात्मिक अनुभूति का आलम्बन – भक्ति के क्षेत्र में भावनाओ की पुष्पांजली जिस आराध्य के चरणों में अर्पित की जाती है उसे आलम्वन कहते है। यह आलम्बन प्रत्यक्ष भी हो सकता है और परोक्ष भी। कबीर की समकालीन परिस्थिति के अन्तर्गत यह स्पष्ट हो चुका है कि उनके आविर्भाव के समय वैष्णव धर्मान्तरगत सगुण साधना धर्म क्षेत्र में स्थापित हो चुकी थी, दूसरी ओर से मुसलमान शासकों के आने के वाद एकेश्वर वाद का बोल वाला था। देव मन्दिरों का ध्वस्त होना और तलवार की नोक पर धर्म परिवर्तन साधारण सी बात थी। जन मानस विचलित और व्यथित था। कवीर ने इसे देखा समझा और आत्मसात किया फलतः एक ऐसे आलम्बन की स्थापना की जो राम हो कर भी निर्गुण था। नाथों के अलख से भिन्न यह निर्गुण राम पिण्ड और ब्रह्माण्ड दोनों से समपृक्त हो कर भी असम्पृक्त था, प्रकट न हो कर भी सब में व्याप्त था। उतनी ही सूक्ष्मता से व्याप्त था "ज्यों पुहपन में वास"। कबीर ने इसी निर्गुण राम की भक्ति का उपदेश दिया है-

निर्गुण राम जपहु रे भाई।

अविगत की गति लखी न जाई।।

कबीर ने ***जो जांचौं तो केवल राम आनदेव सो नहिन काम।"*** कह कर अपने आलम्बन की अनन्यता घोषित की है। तुलसी और सूरदास की भांति निर्गुण और सगुण में कोई सामाजस्य बैठाने की चेष्टा नहीं की है। तुलसी ने

अगुनहि सगुनहिं नहि कछु भेदा। उभय हरहिं भव संभव खेदा।

कह कर निर्गुण और सगुण के बीच समन्वय स्थापित किया है। इसी प्रकार सूरदास ने भी-

अविगत की गति कहत न आवै,

तातै सूर सगुन लीला पद गावै,

पद की रचना कर के यह बताने की चेष्टा की है कि निर्गुण और सगुण में अन्तर

न होने पर भी निर्गुण अगम है और सगुण सुगम। यहां भी समझौता ही किया गया है। कबीर में ऐसे किसी समझौते के दर्शन नहीं होते। उन्होंने स्पष्ट किया है कि निराकार ही मेरा आलम्बन है-

जाके मुख माथा नही नाहीं रूप अरूप।
पुहुप वास से पातरा ऐसा तत्व अनूप।।

****

बूझौ कर्ता आपना मानो वचन हमार।
पांच तत्व के भीतरै जाका यह संसार।।

****

जनम्म मरन से रहित है मेरा साहिब सोय।
बलिहारी वा पीव की जिन सिरजा सब कोय।।

बानियों में व्यक्त कबीर का 'साहिब' ही उनका आलम्बन है। इन उदाहरणों से इतना तो स्पष्ट है कि कबीर ने निर्गुण राम का ही उपाख्यान किया है। **निर्गुण का शास्त्रीय और व्यवहारिक अर्थ** क्या है यह भी जान लेना आवश्यक है।

साहित्य कोश के अनुसार श्वेताश्वतरोपनिषद (६/११) में निर्गुण का अर्थ निरुपण करते हुए लिखा गया है कि निर्गुण उस अद्वितीय देव (परमात्मा) का विशेषण बन कर आया है जो सभी भूतों में अन्तर्निहित है, सर्व व्यापी है सभी कर्मो का अधिष्ठाता है सबका साक्षी है। सबको चेतनत्व प्रदान करने वाला तथा निरुपाधि भी है। निर्गुण की यह उपनिषदीय व्याख्या कबीर के निर्गुण राम के सम्बन्ध में सटीक बैठती है। सामान्यतः निर्गुण शब्द उस अनिवर्चनीय सत्ता का बोधक है जो परमात्मा, ब्रह्म, परमतत्व आदि अनेक नामों से सम्बोधित हुआ है। यह परम ब्रह्म सत्वादि गुणों से युक्त है। गीता में कई श्लोक ऐसे मिलते हैं जिनमें भगवान ने स्पष्ट बताया है कि "जो सात्विक राजस तमस भाव अर्थात पदार्थ हैं वे सब मुझ से ही हुए हैं, वे मुझमें हैं किन्तु मैं उनमें नहीं हूं-

ये चैव सात्विका भावा राजसास्तामसाश्च ये।
मत्त एवेति तान्विद्धि न त्वहं तेषु ते मयि।।

इसीलिए परम ब्रह्म निर्गुण है। वह अगोचर है क्योंकि निराकार है, गुणातीत हैं अतः अगम है। कबीर ने परम सत्ता के इसी रूप को अंगीकार किया है। उनका आलम्बन अव्यापी हो कर भी सर्वत्र व्याप्त है-

खालिक खलक खलक में खालिक। सब जग रहयो समाय।

या फिर *तैसे सब जग ब्रह्म में। ब्रह्म जगत के माहि।*

कबीर की भावना साधना अपने प्रियतम को सर्वव्याप्त और आत्मस्थ मान कर ही आरम्भ होती है **"हिरदै सरोवर है अविनासी"**। कबीर ने "घट घट में माई की उपस्थिति देखी है अतः "कीरी कुंजर" दोनों ही उनकी दृष्टि में समान है। जायसी ने भी नागमती के माध्यम से इसी सत्य को उद्घाटित किया है-

प्रिउ हिरदय में भेंट न होई! कोरे मिलाव कहहु केहि होई।

कबीर का ईश्वर निर्गुण है, निराकार है, अनिवर्चनीय है। अगम हैं निर्विकार है, अनादि है, परम चैतन्य आलोक है, चिदानन्द है।

आचार्य शंकर ने मुक्ति के लिए ज्ञान और अनुभव दोनो को ही अपरिहार्य बताया है। ब्रह्मज्ञान जब तक अनुभूति में नहीं ढल जाता मुक्ति का लाभ स्वप्न ही रहता है। अनुभूति की गहनता में ही आश्रय और आलम्बन की स्थिति उजागर होती है। मोक्षार्थी जब प्रेम के माध्यम से अपने प्रियतम का साक्षात्कार करने को तत्पर होता है तो भावातिरेक में अपने आलम्बन से अनेक सम्बन्ध जोडने लगता है। कबीर ने भी अपने आलम्बन में अनेक भावरूप देखे हैं। इस सम्बन्ध चेतना को 'भावरूप' की सज्ञा दी जा सकती है क्योंकि उनका आलम्बन आरम्भ से ही अरूप है, अलौकिक है और इस अलौकिक में उन्हें उसी प्रकार लीन हो जाना है जैसे समुद्र में बूंद विलीन हो जाती है। उनके ही शब्दो में-

हेरत हेरत हे सखी रहा कबीर हेराई।
बूंद समानी समुंद्र में सो कत हेरी जाई।।

जल और जल की लहर में तात्विक भिन्नता कहाँ है,

"दरियाव और दरियाव की लहर में भिन्न कोयं"

कोई भिन्नता न हो कर भी एक दरिया है और एक इसकी लहर, एक कबीर है और एक उसका आलम्वन। कबीर ने भावातिरेक में अपने आलम्बन से अनेक सम्बन्ध जोडे हैं। एक सम्बन्ध तो एकान्तिक समर्पण के आधार पर आध्यात्मिक भावना और साधना के धरातल पर पति और पत्नी का है जिसे उन्होंने "पिउ" "भरतार" आदि सम्बोधन दे कर व्यक्त किया है दूसरा है निर्विकार निर्विकल्प दासत्व का या फिर स्वामी भक्ति का जिसे कबीर ने निम्न साखी में व्यक्त किया है-

कबीर कूता राम का मोतिया मेरा नाउं।
गले राम की जेवड़ी जित खींचे तित जाऊं।।

कबीर ने अपने को कुत्ता मानकर जीवन की जंजीर राम को सौंप दी है उनका राम तो गुणातीत हैं, इन्द्रियातीत हैं पूर्णतः निर्लिप्त है, पूर्ण मुक्त हैं अतः उसके हाथों

खिच कर कबीर मुक्ति के विन्दु पर ही पहुंचेंगे, अन्यत्र नही। कबीर ने अपने आलम्वन का 'जननी' का सम्बोधन भी दिया है-

हरि जननी मैं बालक तोरा

यह सम्वन्ध तो सत्य ज्ञान को ही उजागर करने वाला है-

पंच तत्व अविगत तैं उतपनां एकै किया निवासा,
बिछरै तत फिर सहजि समाना रेख रही नहिं आसा

सृष्टा और सृष्टि अभिन्न है। जननी और जन्य में अन्तर क्या, पंचतत्व का सर्जक वह एक निर्गुण ईश्वर ही है, सर्व भूत जगत उसकी सृष्टि है, वह पंचतत्व में निवास करता है। इसी आत्म ज्ञान ने कवीर को ईश्वर से जननी सम्बन्ध जोड़ने को प्रेरित किया है। कबीर स्पष्टतः कहते हैं-

नर नारायण रूप है तू मत समझै देह।
जो समझै तो समझ ले खलक पलक में खेह।।

मानवीय संवेदना संभूत सृष्टा और सृष्टि की एक रूपता ने ही कवीर को अपनत्व के उस विन्दु पर ला कर खड़ा कर दिया जहाँ जीव मात्र का दु:ख उनका अपना दु ख हो गया। जहां संवेदना है वहीं साधुता हैं और जहां साधुता है वहीं मनुष्यता हैं कवीर कहते हैं-

कबीर सोई पीर है जे जाने पर पीर।
जे पर पीर न जानई ते काफिर बे पीर।।

कवीर की उद्भावनाओं को ''आत्मवत सर्व भूतेपु की संचेतना के प्रकाश में देखने से कवीर को लेकर व्याप्त सारे द्वन्द स्वयं समाप्त हो जाते हैं। कवीर के लिए जीव मात्र ब्रह्म का व्यक्त रूप है, जीव को पीड़ित करना अज्ञानता है क्योंकि यह स्वय को पीड़ित करना है और प्रकारान्तर से आत्मस्थ ब्रह्म को पीड़ित करना है कवीर की इसी अनुभूति से आरम्भ होती है खंडन मंडन, निषेध, प्रबोधन और चेतावनी की प्रक्रिया, दिशा दर्शन की चेष्टा। कवीर ने समझ बूझ कर ही कहा है-

एक न भूला दोय न भूला भूला सब संसार।
एक न भूला दास कबीरा जाके राम अधारा।।

भ्रम से भ्रम ही जन्म लेगा ज्ञान नहीं। कवीर ने जीवन और जगत की प्रत्येक स्थिति में अपने को रख कर सत्य परीक्षण की चेष्टा की है जिसका फल था स्वय जागना और दूसरों को जगाने की चेष्टा में लग जाना-

जागो लोगो मत सुवो न करु नींद से प्यार।
जैसा सपना रैन का ऐसा यह संसार।।

मनुष्य के मन में छिपे हुए 'षट रिपु' अर्थात काम क्रोध मद लोभ मोह मत्सर ही उसे विषय वासनाओं के अन्धकार मे सुला देते हैं, आत्म ज्ञान के अभाव में यह अन्धकार ही उसके जीवन का सत्य बन जाता है। आवश्यकता है ऐसे सत्य दर्शी सत की जो जलती लुकाठी ले कर चौराहे पर खड़ा हो जाए और ललकार कर कहे लो लगाओ, आग, और भगाओ अन्धकार,

हम घर जाल्या आपणा लिया मुराड़ा हाथ ।
अब घर जाल्यो तास का जे चले हमारे साथि ।।

मेरी बात मानो मेरे साथ आओ जिसे तुम सच समझ रहे हो वह झूठ है, वह छलना है। ऐसी ललकार देने का साहस केवल कबीर ने किया है-

जो तू परा है फन्द में निकसेगा कब अंध।
माया मद तोकूं चढ़ा मत भूले मति मंद।।

कबीर मनुष्य की मनीषा को जगाना चाहते है, सार को समझाना चाहते हैं, असार को दिखाना चाहते है। कबीर कहते हैं-

कबीर काया पाहुँनी हंस बटाऊ मांहि।
न जानू कब जायगा मोहिं भरोसा नाहिं।।

काया और जीवन की निःसारता को देखते हुए भी मनुष्य अहं की कारा से अपने को मुक्त नहीं कर पाता। यह मैं और मेरा ही मनुष्यत्व का नाशक है।

"जब मै था तब हरि नहीं जव हरि हैं मै नाहिं"

बाजार शब्द वैशिष्ट्य – अतः अपने इस अहं के घर को जला दो और बाजार मे आ कर खड़े हो जाओं क्यों कि घर अपना होता है और बाजार सबका। जो सब में है वह तुम में है तुम भिन्न कहां हो? कबीर तो अपना घर फूंक कर लुकाठी हाथ में ले कर बाजार में खड़े हैं और आमंत्रण दे रहे हैं-

कबिरा खड़ा बाजार में लिए लुकाठी हाथ,
जो घर फूकै आपना चलै हमारे साथ,

कबीर का यह क्रांतिकारी रूप, जन नायकत्व की भावना, प्राणीमात्र के प्रति दया और ममता, संसार की निःसारता का बोध और आत्मज्ञान की ललक कबीर को आध्यात्मिक स्तर पर मानवतावादी जन आंदोलन का नायक बना देती हैं कबीर की बानियों में बाजार शब्द का अपना विशिष्ट महत्व है। बाजार एक ऐसा स्थान हैं जहां धनी, निर्धन, ऊंच, नीच, ब्रह्मण, शूद्र, देशी विदेशी, विविध धर्मावलम्बी सभी का प्रवेश है। हाट बाट की समरसता समस्त भेदों से मुक्त है। वैष्णव, शाक्त, शैव्य, संत, औलिया, पीर, पादरी, गुरु, साहब सभी के समान प्रवेश और विचरण का क्षेत्र है

बाजार। कबीर ने बाजार के विस्तार का निम्न पद में और भी व्यापक वर्णन किया है-

रमैया की दुलहिन ने लूटा बाजार,

बाजार तो सबका होकर भी किसी का नहीं होता यह संसार कबीर की दृष्टि मे माया बाजार है कोई लूट रहा है कोई लुट रहा है। वास्तविकता पर प्रकाश डालते हुए कबीर कहते हैं कि मनुष्य तो भ्रम में पड़ा हुआ है, अज्ञानता के अंधकार में डूबा हुआ है इसीलिए इस माया बाजार में भटक गया है-

सपने सोवा मानवा खोलि जो देखे नैन,
जीव परा बहु लूट में न कछु लेन न देन।

इसीलिए सत्य दृष्टा कबीर स्वयं बाजार में खडे हैं, मैं और मेरे पन की भावना को पनपाने वाले घर को आग लगा कर परमात्मा के साक्षात्कार के लिए आमंत्रण दे रहे हैं।

षट रिपु – कबीर ने मानव की अंहमन्यता के जनक, षट रिपुओं का एक एक कर उल्लेख किया है। मनुष्य की प्रसुप्त आत्मा को जगाने के लिए उसके मन को विकार ग्रस्त करने वाले तत्वों का रूप दर्शन कराया है। सब से पहले आता है **काम**। काम ही मनुष्य को अन्धा बना कर वासनाओं के ज्वार में बहा ले जाता है-

काम काम सब कोई कहै काम न चीन्है कोई,
जेती मन की कल्पना काम कहावे सोय,

कामी व्यक्ति असारता में भी सार देख लेता है-

कामी अमी न भावई विष को लेवे शोध,
कुबुद्धि न भाजै जीव की भावे ज्यों परमोध।।

काम से पार पाने के लिए आत्मज्ञान आवश्यक है पर जिसे काम में ही आसक्ति हो वह तो डूबेगा ही चाहे फिर वह देवता हो मनुष्य हो या मुनि हो-

तन मन लज्जा न करै काम बान उरसाल।
एक काम सब बस किए सुर नर मुनि बेहाल।।

दुसरा शत्रु है **क्रोध** जहां काम होता है वही क्रोध होता है गीता में भी भगवान ने "कामस्य क्रोधाभि जायते" कह कर मनुष्य की मति के विभ्रमित होने की बात कही है। क्रोध सत्य पथ की बहुत बड़ी वाधा है, बाधा नहीं बड़ी मनोव्याधि है। इससे मुक्त हुए बिना साधुता नहीं आती। कबीर कहते हैं-

गार अंगार क्रोध झाल निंदा धूंवा होय।
इन तीनो को परिहरै साधु कहावै सोय।।

क्रोध की अग्नि इतनी प्रचण्ड होती है कि इसमें जल कर मनुष्य के अच्छे कर्म

भी झुलस जाते है

कोटि करम लागे रहे एक क्रोध की लार।

किया कराया सब गया जब आया हुंकार।।

कबीर तो यहाँ तक कहते हैं कि मनुष्य का तन काठ की कोठी है यदि क्रोध की आग जल उठे तो बचना कठिन है। साधुता की ओर बढ़ते मनुष्य को काम की भान्ति क्रोध से भी बचना आवश्यक है।

मनुष्य के मन का तीसरा शत्रु है **मद**। मद अभिमान का ही दूसरा रूप है ''अह' से भरा व्यक्ति पतन की ओर ही निरन्तर बढ़ता है, मान सम्मान सब नष्ट हो जाता है अहं से. मद से मुक्त होने के लिए कबीर समझाते हैं-

अहं अगिन हिरदै जरै गुरु सो चाहे मान।

तिनको जम न्योता दिया हो हमरे मेहमान।।

इसलिए मनुष्य का कर्तव्य हो जाता है कि वह मद से अपने को मुक्त रखे। कबीर सीख देते हुए कहते हैं-

मद अभिमान न कीजिए कहें कबीर समुझाय।

जा सिर अहं जो संचरै पड़े चौरासी जाय।।

मद कहिए, अहं कहिए या अभिमान, किसी भी नाम से पुकारिए लेकिन है यह मानवता का विवादी स्वर।

मनुष्य के मन को विकृत करने वाला चौथा तत्व है- **लोभ**। बड़े बड़े ज्ञानी पंडितो को भी यह लोभ कठपुतली सा नचाता रहता है। लोभ की धार बड़ी मारक होती है विवेकी ही इससे बच पाता है। लोभ का व्याख्यान करते हुए कबीर ने कहा है

जोगी जंगम सेवड़ा ज्ञानी गुनी अपार।

षट दरषन से क्या बने एक लोभ की लार।।

लोभ में पड़ा मानस केवल इच्छाओं के ढेर खड़ा करता रहता है, और फिर एक दिन उसी ढेर के नीचे दब कर काल के मुख में चला जाता है। जब हाथ पसारे ही ससार से जाना है। तब कैसा लोभ कैसा संचय? इन्द्रिय सुख की ललक विवेक को नष्ट कर देती हैं लोभी व्यक्ति मानवीय संवेदनाओं से परे क्रूर हो जाता है।

मनुष्य के मन का पांचवा शत्रु है **मोह**। यह छद्म रूपा है। माया के इस संसार मे जन्मा व्यक्ति मोह से कठिनाई से ही उबर पाता है। मोह राग का ही पर्यायवाची है। अनुराग तो रागमय है ही पर विराग में भी राग है। कहीं मोह ममता बन कर सामने आता है तो कहीं भक्ति, अनुरक्ति और आसक्ति बन कर, ये भी मोह के ही रूप

है कबीर न मोह मुक्त होने के लिए अपनी साखियो मे बड़े उपदेश गूथ दिए हैं बात समझने, पकड़ने और मुक्त होने की है। जीवन में मोह के विस्तार को व्यक्त करते हुए कबीर कहते हैं-

सुर नर ऋषि मुनि फंसे मृग त्रिसना जग मोह।
मोह रूप संसार है गिरे मोह निधि जोह।।

तो फिर कैसे हो मोह का निवारण बिना मोह मुक्त हुए न आत्मा का ही ज्ञान हो सकता है और न परमात्मा का। फिर उपाय क्या है? कबीर बताते हैं उपाय-

मोह नदीं विकराल है कोई न उतरै पार।
सत गुरु केवट साथ लै हंस होय उस पार।।

कबीर मानव को सचेष्ट करते हुए कह देते हैं कि मोह की थाह पाना सरल नही। मोह मुक्त होने के लिए, सदगुरु, सदज्ञान और नीर क्षीर विवेक की आवश्यकता होती है।

मनुष्य का छठा शत्रु है **मत्सर**। मत्सरी प्रवृत्ति से प्रेरित मनुष्य दूसरे की श्रेष्ठता से महत्ता से आहत होता है, उसके अन्तस में ईष्या की अग्नि धधक उठती है फलत वह दो कार्यो में प्रवृत्त हो जाता है, एक तो स्वयं के मान को जिसे गुमान कहना अधिक ठीक है सामने लाने की चेष्टा दूसरे निन्दा के माध्यम से दूसरे को निष्कृट सिद्ध करने का प्रयास। ईर्ष्यालु व्यक्ति कपट प्रवीण होता है। ईर्ष्या का धुआं मन को मलीन कर देता है। ऐसे मन में साधुता कहां टिकेगी? कबीर नहीं चाहते कि जिस मनीषा के बल पर मनुष्य अन्य प्राणियों में श्रेष्ठ है वह मिट्टी में मिल जाए। उन्होंने अपनी बानियो मे जीवात्मा को परमात्मा का आवास माना है। यदि परमात्मा का साक्षात्कार करना है तो मन का दर्पण नितान्त निर्मल होना चाहिए। मन पर पड़ी हुई विकार की कोई भी छाया परमार्थपथ की बाधक है अतः परम लक्ष्य तक पहुचने के लिए पहले मन का शोधन आवश्यक है। इन मनोविकारों से मुक्त होना सरल नहीं है कबीर कहते हैं-

कंचन तजना सहज है सहज त्रिया को नेह।
मान बड़ाई ईरखा दुर्लभ तजना येह।।

ईर्ष्या की एक अभिव्यक्ति मान है दूसरी कपट है। कबीर के अनुसार-

माया तजे तो क्या भया मान तजा नहि जाय।
मान बड़े मुनिवर गले मान सबन को खाय।।

मत्सर का भाव अभिव्यक्ति में कपट के साथ आता है। मत्सरी व्यक्ति बाहर से कुछ और भीतर से कुछ और होता है। कबीर आदेश देते हुए कहते हैं।

कबीर तहां न जाइए जहां कपट का हेतु।
जानो कली अनार की मन राता तन सेत।।

जिस मन में ईर्ष्या की अग्नि जलती हो उससे दूर ही रहना श्रेयस्कर है-

हिए कतरनी जीभ रस मुख बोलन का रंग।
आगे भल पीछे बुरा ताको तजिए संग।।

विवेक – कबीर मनुष्य के विकार ग्रस्त मन का चित्र सामने रख कर, षटरिपुओ का पूर्ण परिचय देकर जीवात्मा को मन के तप के लिए प्रेरित करते हैं। मन के शोधन के बिना जीवन अर्थात आचार विचार का परिष्कार हो भी कैसे सकता है। विवेक की डोर थाम कर ही जीव मनोविकार की धार पार कर सकता है। कबीर ने उस व्यक्ति को हंस की संज्ञा दी है जिसके पास विवेक की ज्योति है और ज्ञान का प्रकाश है-

बुगली नीर बिटालिया सायर चढ़ा कलंकु।
और पखेरु पी गए हंस न बोवै चंचु।।

मनोविकारों से भरे विषय वासनाओं के सरोवर में गन्दा जल पीने वाले पक्षियों की कमी नहीं है पर हंस उस माया प्रदूषित जल में चोंच नहीं डुबाता क्यों कि उसके पास सार और असार, सद और असद को परखने की शक्ति है। साधना पथ पर विवेक का सम्बल ले कर ही चला जा सकता है-

जब लगि नहिं विवेक मन तब लग लगै न तीर।
भौसागर नामी तरै सतगुरु कहैं कबीर।।

****

गुरु पशु, नर पशु नारि पशु वेद पशु संसार।
मानुष ताको जानिए जाहि विवेक विचार।।

मनुष्यता की कसौटी ही विवेक है। बिना विवेक के कोई सन्त नहीं हो सकता-

कहै कबीर पुकार के सन्त विवेकी होय।
जार्मे शब्द विवेक है छत्र धनी है सोय।।

स्पष्ट है कि सन्तत्व पाने के लिए जीवात्मा को पहला युद्ध तो मन की युद्ध भूमि पर षटरिपुओं और उनके संगी साथी आशा तृष्णा आदि के साथ करना है बिना उन्हें परास्त किए सदपथ पर चलना भ्रम है क्यों कि मन का क्या विवेक का अंकुश हटते ही मस्त कुंजर सा घातक हो उठता है पहले मन को ही साधना है नहीं तो उसकी अवस्था निम्नवत होती है-

तीरथ चालै दुई जना चित चंचल मन चोर।
एकौ पाप न कतरा दस मन लाए और।।

सदपथ पर चलने के लिए सकल्पित मनुष्य को मन का शोधन करना पड़ता है वह भी गुरु के प्रबोधन के प्रकाश में। कबीर ने अपनी बानियों में प्रबोधन का यह कार्य किया है।

मानवता पर आधारित जीवन मूल्य– कबीर सर्वात्मचेता हैं वह मनुष्य मात्र को जगाना चाहते हैं। प्यार से, फटकार से, उदाहरण से कैसे भी जीव को सत्य के आलोक में जगाना उनका लक्ष्य है पर जो जागना ही न चाहे उसके लिए वह क्या करें खीझ कर कह उठते हैं-

मेरा तेरा मनवा कैसे इक होय रे,
मै कहता हूं जागत रहियों तू जाता है सोय रे।
****
मैं कहता हूं सुलझावन हारी तू देता है उलझाय रे।

कबीर के समय का जन मन सचमुच बड़ी उलझन में था राजनैतिक, धार्मिक, सामाजिक उलझनों का ढेर लगा था किन्तु सर्वात्मचेता कबीर हार मानने वाले नही थे उन्हें तो एक ऐसे जनान्दोलन की नींव डालनी थी जो मानवता के निरपेक्ष मूल्य को सस्थापित कर सके, नर में निहित नारायणत्व का बोध जगा सके, समरसता का स्वर मुखर कर सके। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने लिखा है कि "कबीर एक ऐसे मिलन बिन्दु पर खड़े थे जहां से एक ओर हिन्दुत्व निकल जाता है दूसरी और मुसलमानत्व, जहां से एक और ज्ञान निकल जाता है और दूसरी और अशिक्षा, जहां पर एक ओर भक्ति मार्ग निकल जाता है और दूसरी ओर योग मार्ग, जहां से एक और निर्गुण भावना निकल जाती है और दूसरी और सगुण भावना उसी प्रशस्त दो राहे पर वह खडे थे, वह दोनो और देख सकते थे और परस्पर विरुद्ध दिशा में गए हुए मार्गो के गुण दोष उन्हें स्पष्ट दिखाई दे रहे थे। कबीर का भगवद्दत्त सौभाग्य था, उन्होंने इसका खूब उपयोग भी किया"। कबीर ने एक सच्चे जननायक की भांति, क्रांतिकारी स्वतंत्रचेता की भांति समाज में व्याप्त, रुढ़ियों, परम्पराओं अन्धविश्वासों, आडम्बरों की व्यर्थता सिद्ध करने का बीड़ा उठाया। मानव के बीच विभाजक रेखा खीचने वाले धर्मगत, शास्त्रगत, वंशगत और संस्कार गत रीतियों को नीतियों को निःसार ही नहीं घोषित किया उन्हें निर्मूल करने का भरसक प्रयास भी किया। धर्मगत आडम्बरों और अभिचारों की जम कर धुनाई की। सम्प्रदायगत भेद भाव को कबीर अमानवीय मानते थे। उनकी दृष्टि में पंडित और मुल्ला दोनों को ही कटघरे में खड़ा किया जाना चाहिए, हिन्दू मुस्लिम का भेदभाव इनकी कट्टरता और पोंगापन्थी से ही उपजा है। हिन्दू और

मुसलमान दोना ही मानवता के सदपथ से भटक गए है-

अरे इन दोउन राह न पाई,
हिन्दुअन की हिन्दुआई देखी तुरकन की तुरकाई,
हिन्दू अपनी करें बड़ाई गागर छुवन न देई,
वेश्या के घर पांव पलोटे कहां गई हिन्दुआई,
मुसलमान के पीर औलिया मुरगा मुरगी खाई,
खाला केरी बेटी ब्याहे घरहिं में करैं सगाई,

इस पद में कवीर ने हिन्दू और मुसलमान दोनों की आचरणगत संकीर्ण जीवन पद्धति पर मुक्त प्रहार किया है।

वास्तविकता तो यह है कि कवीर की विद्रोह परक उक्तियॉ तत्कालीन सामाजिक जीवन की आरसी हैं। मध्य युगीन इतिहास पर लिखते हुए वर्कले ने वताया है कि "जनता की धर्मान्धता और शासकों की नीति के कारण कवीर के जन्मकाल के समय हिन्दू मुसलमान का पारस्परिक विरोध वहुत वढ़ गया था। धर्म के सच्चे रहस्य को भूल कर कृत्रिम विभेदों द्वारा उत्तेजित हो कर दोनो जातियॉ धर्म के नाम पर अधर्म कर रही थी। ऐसी स्थिति में सच्चे मार्ग प्रदर्शन का श्रेय कवीर को है।" कवीर सही अथ मे मानव मुक्ति और मानव मात्र की एकता के उन्नयन के लिए कटिवद्ध थे। मानव की एकता पथ के पत्थर उठाने में उन्हें पाखण्डी, आडम्वरी, व्राह्मण पंडित, पीर औलिया और कट्टर धर्मावलम्वियों द्वारा पत्थर भी खाने पड़े, पर वह निर्विकल्प भाव से ऐसे लोगों को दर्पण दिखाते हुए आगे वढ़ते रहे-

मन मैला तन ऊजरा बगुला कपटी अंग।
तासों तो कौवा भला तन मन एकहि रंग।

चार चार मालाएं पहन कर, त्रिपुण्ड तिलक लगा कर कोई पंडित नहीं हो जाता, मस्जिद पर वांग देने से या जहां तहां मुसल्ला विछा कर नमाज पढने से ईश्वर नहीं मिल जाता। यह तो भोली जनता को भरमाने वाले ढकोसले हैं सच्चा योग मन से होता है कवीर कहते हैं-

तन को जोगी सब करैं मन को करै न कोय।
सहजै सिद्धि पाइए जो मन जोगी होय।।

सन्त कवीर ने धर्म के नाम पर मिथ्याचार द्वारा संसार को भ्रमित करने वाले कट्टर धर्मानुयायिओं को पूर्णतः अनावृत कर दिया है। सत्य से भटके हुए इन लोगों को दर्पण दिखाते हुए कवीर कहते हैं-

सतो देखो जग बौराना

सांच कहो तो मारन धावै झूठ कहे पतियाना।

नेमी देखा धर्मी देखा प्रात करे अस्नाना।

आतम मार पषानहि पूजैं उनमें किछू न गियाना।

बहुतक देखा पीर औलिया पढ़े कितेब कुराना।

कर मुरीद तदबीर बतावै मन में बहुत गुमाना।

कवीर वौराए जग को प्रकाशित करते हुए कहते हैं -

हिन्दू कहै मोहि राम पियारा तुरुक कहै रहिमाना।

आपस में दोऊ लरि लरि मुए भरम न काहू जाना।।

कवीर ने वडी निर्ममता से हिन्दू और मुसलमानों की धार्मिक रूढ़ियों और आचार विचार पर प्रहार किया है । कवीर हिन्दूओं से कहते हैं-

पाहन केरा पूतरा करि पूजै करतार।

इही भरोसे जे रहे ते बूड़ै काली धार।।

लाडू लवण लापसी पूजा चढ़ै अपार।

पूजि पुजेरा ले गया दै मूरत मुख छार।।

इसलिए अज्ञानियों! मन्दिर और तीर्थो में भटक कर, पंडितों और पुजारियों के पैर पकड कर अपना हीरे जैसा जन्म नष्ट मत करो। वाहर कहीं कुछ नहीं है जो है वह मन में ही है-

मन मथुरा दिल द्वारिका काया काशी जाणि।

दसवां द्वार देहुरा तामें जोति पिछाणि।

बिल्कुल इसी पद्धति में वह मुसलमानों को भी ललकारते है-

कहुरे मुल्ला बांग निवाजा, एक मसीत दसौं दरवाजा।

मन कर मका किबला कर देही। बोलन हार परम गुरु एही।

उहां न दो जग मिस्त मुकाँमाँ। इहां ही राम इहां रहिमाना।।

कबीर ने विना थके विना रुके पीर और पुजारी को आत्मज्ञान के सीधे सहज मार्ग पर लाने की अलख जगाई। पीर से कहा कि कंकड़ पत्थर की मस्जिद वना कर वाग देने की क्या आवश्यकता है, खुदा कोई वहरा तो है नहीं। साहव तो सूक्ष्म हत्कम्प भी सुन लेता है यहां तक कि "चींटी के पग नेवर बाजे सो भी साहव सुनता है" फिर यह चीख पुकार क्यों? यदि खुदा को पाना है, भगवान का दर्शन करना है तो इन वाह्याडम्बरों के बन्धन तोड़, धार्मिक रूढ़ियों और परम्पराओं से मुक्त हो जाओ। कवीर के भाव विचार का संवाहक निम्न पद आत्म ज्ञान के लिए मील का पत्थर है-

मो को का ढूढ़े बन्दे मैं तो तेरे पास में.
न मै देवल न मै मस्जिद न काबा कैलास में
खोजे होय तुरतै मिलिहौं पल भर की तालाश में

कबीर कहते हैं कि अन्धे हो कर भीड़ के पीछे दोड़ने से कुछ नही मिलेगा क्यों कि जिसे तुम पाना चाहते हो वह बाहर नहीं भीतर है "कस्तूरी कुण्डलि बसै मृग ढूंढ़े वन माहि" भ्रमित मनुष्य की अवस्था इस वन्य पशु के ही समान है। कबीर ने मानवता को ही विराट धर्म या सार्वभौमिक धर्म के रूप में प्रतिपादित किया है। इससे परे जो संकीर्ण घेरों में बन्द धर्मिता है वह धर्मिता नहीं हठधर्मिता है। मानवता को धारण करने वाले धर्म का स्वरूप एक है। एक उदाहरण से इसे पुष्ट करते हुए कहते हैं कि-

कारी पियरी दुहहु गाई,
ताकर दूध देहु बिलगाई,

काली पीली दोनों गायों को एक पात्र में दुहने पर क्या कोई दोनों के दूध को अलग कर सकता है? आत्मा तो एक ही है काया का वर्ण चाहे कुछ भी हो।

धर्म से परे यदि तदयुगीन समाज के सन्दर्भ में कबीर को देखें तो स्पष्ट हो जाता है कि उन्होने सब से पहले वर्ण व्यवस्था को अपना लक्ष्य बनाया है। उनकी दृष्टि में न कोई ब्राह्मण है, न कोई शूद्र सब खुदा के बन्दे हैं। कबीर तर्क देते हुए कहते हैं-

हमारे कैसे लोहू तुम्हारे कैसे दूध।
तुम कैसे ब्राह्मण पांडे हम कैसे सूद।।

यदि उस विधाता रूपी कुम्हार को जाति गत, वर्णगत भेदगत समाज में स्वीकार होता तो सबको अलग अलग ढंग से जन्म भी देता-

जौत करता बरन विचारा जनमत तीन दण्ड अनुसारा, लेकिन जन्म तो सबका एक ही पद्धति से होता है फिर भेद कैसा? कबीर बड़ा चुनौती पूर्ण तर्क देते हैं-

जो तू बांभन बंभनी जाया,
आन बाट ह्वै काहे न आया,
जो तू तुरक तुरकनी जाया,
भीतर खतना क्यों न कराया,

वस्तुत. यह सारे विभेद कृत्रिम है। विधि के बनाए हुए नहीं, स्वार्थी मनुष्य के उपाजाए हुए हैं। कबीर कहते हैं कि-

जो तू सांचा बानिया सांची हाट लगाव।
अन्दर झारू देई के कूरा दूरि बहाव।।

जब मनुष्य का मन ही कूड़े से भरा होगा तो कर्म कैसे निर्मल होंगे। मनसा वाचा

कर्मणा लोग हिंसक वृत्तियों में ही रमे हैं।

" बे हलाल वे झटका मारें आग दुहुँ घर लागी" में मनुष्य की क्रूरता व्यंजित हुई है।

दिन भर रोजा रहत है रात हनत है गाय" में भी कबीर ने क्रूर पशु प्रवृत्ति का ही उल्लेख किया है।

सारा समाज अमानवीय कर्मकाण्ड के प्रवाह में वहा जा रहा है। कबीर कहते है हमने हिन्दू मुस्लिम दोनों ही समाज की प्रवृत्तियों को परख लिया है-

संतो राह दुओ हम दीठा।
हिन्दू तुरूक हटा नहिं माने स्वाद सबन को मीठा
हिन्दू बरत एकादशि साधे दूध सिंघाड़ा सेती
अन्न को त्यागे मन को न हटै पारन करैं सगोती
तुरूक रोजा नमाज गुजारैं बिसमिल बांग पुकारैं
इनको बिहिस्त कहां से होई जो सांझे मुरगी मारैं
हिन्दू दया मेहर को तुरकन दोनो घट सो त्यागी।।

इस पद में सामाजिक परिप्रेक्ष्य में मानवीय संवेदना की महत्ता पर प्रकाश डाला है। जब मनुष्य के हृदय में दया ही नहीं है, मेंहरबानी ही नहीं है तो दूसरों के सुख दुख का सहभागी कैसे होगा। समाज के दीन दुर्बल शोषित वर्ग के प्रति करुणा का होना ही मानवीयता है। सामाजिक समरसता का आधार करुणा ही है। कबीर कहते है कि नीचता और कुलीनता का भाव सामाजिक विष है जो मनुष्य को निरन्तर पतन की ओर ढकेलता है-

नीचे नीचे सब तिरे जिहि तिहि बहुत अधीन।
चढ़ बोहित अभिमान की बूड़े ऊंच कूलीन।।

उनकी दृष्टि में मनुष्य केवल मनुष्य है, न ऊंच है न नीच। जिसका हृदय विशाल है, सब के लिए समान भाव से जिसके मन के द्वार खुले है वही वड़ा है, वही महान है।

नमन क्षमन और दीनता सबकूं आदर भाव।
कहै कबीर सोई बड़े जामें बड़ा स्वभाव।।

कबीर ने अपनी इस साखी में समाजवादी चेतना का सार तत्व संजो दिया है। प्राणी मात्र दया और प्रेम का अधिकारी है हिंसा और पाशविक व्यवहार का नहीं। कबीर बकरी का दे कर मनुष्य को करुणा का पथ दिखाते हैं थाड़ा सा भय का मुलम्मा

चढा कर

बकरी पाती खात है ताकी खैची खाल।
जे नर बकरी खात है तिनको कौन हवाल।।

शाश्वत करुणा के लिए जिसके हृदय में स्थान नहीं है वह मनुष्य समाज के लिए भार है।

कबीर सच्चे अर्थों में लोकनायक थे। हिन्दी साहित्य के इतिहासकार शिवकुमार शर्मा लिखते हैं कि "कबीर की भक्ति आत्मभक्ति तक ही सीमित रही हो ऐसी बात नही हे उसमें अन्त संघर्ष के साथ लोक संघर्ष और निवृत्ति के साथ प्रवृत्ति है। वस्तुत कबीर का जीवन लोकार्पिता जीवन है। गीता में भगवान ने "सर्वभूत हिते रताः" का उपदेश दिया है। कबीर ने इस उपदेश को जिया है। जीवन पथ से समस्त विषमताओ को काट छांट कर झाड़ बुहार कर उसे सुगम और सहज बनाने के लिए कबीर ने सतत प्रयास किया है, झाडू उठानी पड़ी तो झाडू उठा ली, कैंची चलानी पड़ी तो वह भी चला ली। प्यार से बात बनी तो ठीक है नहीं तो अपने समरस मानवीय समाज का स्वप्न साकार करने के लिए फटकार का सहार ले लिया। साहित्य वेत्ताओं की दृष्टि में कबीर का जीवन और काव्य भारत की सामन्ती व्यवस्था की रूढ़ियों, पाखण्डों और मिथ्याचार के प्रति एक जिहाद है। कबीर के समाज सुधारक रूप का आकलन करते हुए डा० शिवदान सिंह चौहान लिखते है कि "उन्होंने मानव मात्र की समानता का सिद्धान्त प्रचारित किया। इस विराट जन आन्दोलन के सब से प्रमुख और कृती नेता के रूप में उन्होंने अपने मुख से जो कहा उसमें हमें उनके युग का पूरा चित्रण मिलता है ओर **भविष्य के लिए जीवन संदेश भी।**

वस्तुतः कबीर मानव मन के गायक उन्नायक सन्त थे। विधाता की सुन्दरतम रचना मनुष्य, सामाजिक जीवन की विषमता और कुरितियों की कल्मषता के बीच अपने नेसर्गिक सद्‌रूप से दूर हो जाता है। कबीर ने अपनी बानियों को दर्पण बना कर मनुष्य के आगे रखा है, अपने को देखो और संवारो क्यों कि मानवता ही मानव का श्रृगार हो सकती है दानवता या पशुता नहीं। आध्यात्म और मानवता के जिज्ञासु साधक है कबीर मंगलमय मानव जीवन के व्याख्याता हैं, प्रेम के परमार्थिक प्रकाश से परिपूर्ण समरसतावादी पूर्ण मानव मूर्ति के शिल्पी हैं, मूर्ति जिसे उन्होंने साखी और सवद की छेनी हथौड़ी से गढ़ा है।

अभिव्यक्ति

काव्य शिल्प दर्शन पृष्ठभूमि, भाषा, शैली, गुण माधुर्य, ओज, प्रसाद, अलंकार, रस छन्द, काव्य वैशिष्ट्य, प्रतिक्रियात्मक काव्य, बावनी, निष्कर्ष

काव्य पक्ष का रूप दर्शन - संवेदनशील हृदय में जब भाव और अनुभूति का वेग दुर्दमनीय हो जाता है तो पहाड़ी झरने की तरह पत्थरों को भी फोड़ कर भावधारा अपना पथ बना लेती है। अनुभूति की विपुलता अभिव्यक्ति को जन्म देती है और फिर यह अभिव्यक्ति कभी शास्त्रीय तो कभी लौकिक परम्परा में ढल जाती है, कभी लिखित रूप में सामने आती है तो कभी मौखिक रूप में। तुलसी दास ने ग्रन्थ पर ग्रन्थ लिखे और विनम्र भाव से कह दिया **''कवित विवेक एक नहि मोरे। सत्य कहूँ लिखि कागद कोरे''**

कम से कम लिखने की बात तो तुलसी ने कही भले ही ''कोरे कागद'' की विनम्रता उसमें टांक दी हो पर कबीर ने कहीं भी लिखने की बात नहीं की। ''सत्य कहूं'' के नाम पर उन्होंने अपने मुख से जिस सत्य का कथन किया वह है-

''मसि कागद छुओ नहीं कलम गह्यो नहिं हाथ ''। इस सत्य को आधार बना कर ही कबीर की काव्यात्मकता पर विचार किया जा सकता है। कबीर ने कविता नही लिखी कविता ने ही कबीर को लिख दिया। रीतिकाल के कवि घनानन्द ने अपने सम्बन्ध में लिखा हैं-

''लोग हैं लागि कवित्त बनावत, मोहिं तो मोरे कवित्त बनावत''

कबीर का लक्ष्य तो बिना किसी दुराव छिपाव के अपने मन के भावों को यथा तथ्य रूप में व्यक्त कर देना ही था। संक्षेप, में कबीर ने *''देखा, सुना, सोचा, समझा और कह दिया''* की पद्धति में अपने व्यक्तिगत मनोभावों को और समष्टिगत चैतन्यानुभूति को ज्यों का त्यों जन मन के सम्मुख मौखिक रूप से परोस दिया। उनका कहा यदि काव्य की परिधि में आ गया तो यह भावक की अपनी चेष्टा का फल है। कबीर ने न साहित्य

पढा था न काव्य शास्त्र और न ही उनका लक्ष्य कवि कर्म था, "रमता जोगी बहता पानी" की स्थिति में वह जन मन की वीथिकाओं में विचरण करते रहे और आज भी कर रहे हैं। उनकी वानियों का पानी घाट घाट वहता रहा, किसी को शीतल लगा किसी को तप्त। लगने की चिन्ता कबीर ने कभी नहीं की जो उन्हें ठीक लगा जनहित मे वही कहा। स्पष्टतः कबीर न शास्त्रज्ञ थे न, साहित्याचार्य, वह थे सत्संगी। कबीर का विश्वास था-

कबीर संगति साधु की नित प्रति कीजै जाय।
दुरमति दूर बहावसी देसी सुमति बताय।।

****

कबीर संगत साधु की ज्यों गन्धी की वास।
जो कुछ गन्धी दे नहीं तो भी वास सुबास।

कवीर को **काव्यात्मक सुवास सत्संग** से ही मिली है। यह तो सभी मानत हैं कि कवीर वहुविज्ञ ने हो कर वहुश्रुत थे। वहुश्रुत होने के कारण ही कवीर की वानियो म काव्य के उपादान जाने अनजाने, चाहे अनचाहे गुंथ से गए हैं। उनका कविकर्म अनायास है, सप्रयास नहीं। अतः शास्त्रीय निकष ले कर उनकी बानियों को कसने परखने की प्रक्रिया न्याय संगत नहीं है। कवीर के काव्य में उपवन का कटा छंटा सौन्दर्य भल ही न हो वन का अकृत्रिम सौन्दर्य अवश्य है। अनुभूति की अभिव्यक्ति के यो नो अनेक माध्यम हैं पर सर्वाधिक सशक्त माध्यम है भापा अतः पहले भापा पर ही विचार करें।

कबीर की भाषा- शास्त्रीय परिभापा के अनुसार "जिन ध्वनि चिन्हों द्वारा मनुष्य परस्पर विचार विनिमय करता है उनकी समष्टि को भापा कहते हैं। भापा के इस लक्षण म विचार के अन्तर्गत भाव और इच्छा भी है।" भाव और इच्छा मे विचारों की सम्प्रपणीयता का तत्व सन्निहित होता है। प्रेपण है तो ग्रहण भी होना चाहिए। स्थिति भद से प्रेपण और ग्रहण श्रोता और वक्ता का पर्याय वन जाते हैं। यहीं से आरम्भ हाती है भापा के रूप परिवर्तन की यात्रा। वक्ता को अपनी वाणी को श्रोता के मानसिक और बौद्धिक स्तर के अनुरूप ढालना पड़ता है। **कथन की ग्राह्यता अभिव्यक्ति की पहली आवश्यकता होती है,** कबीर जननायक सन्त थे, अन्यान्य सुविज्ञ सन्तो के सत्संग से जो शब्द उन्हें मिलते थे वह भी उनकी बानियों में ढल जाते थे और बानी का जो विनिमय कवीर अज्ञानी भूले भटके लोगों से, उनके स्तर पर आकर करते थे वह भी उनकी भापा का अंग बन जाते थे। स्पष्ट है कि भाष में परिष्कार और

परिमार्जन का खोजन वाले आलोचक कबीर की भाषा को लेकर ऊहापोह में पड़ जाते हैं। कोई कबीर की भाषा को सधुक्कड़ी कहता है, तो कोई पंचमेल खिचड़ी, क्यो कि जन मन के ज्ञान के आलोक में आध्यात्म के प्रकाश को जगाने के लिए कबीर को रमता जोगी बनना पड़ा। जिस भाषायी समुदाय के बीच खड़े हुए उनसे कुछ लिया और उनको कुछ दिया। इसीलिए कबीर की भाषा में जहां अवधी, ब्रज, खड़ी बोली, राजस्थानी, पंजाबी, आदि का मिश्रण है, वहीं धर्म दर्शन आदि के तथा पूर्ववर्ती साधना पंथों के पारिभाषिक शब्दों का भी सघन गुम्फन है, शून्य, अनहद निर्गुण, सगुण, इला पिंगल सुरति निरति इसके उदाहरण है।

शब्द शब्द मिल कर भाषा बनती है भाषा का मूल, शब्द ही है। शब्दों के सम्बन्ध में कबीर का कहना था कि-

शब्द शब्द सब कोई कहे, शब्द का करो विचार।
एक शब्द शीतल करे एक शब्द दे जार।

**

एक शब्द सुख खानि है एक शब्द दुख रासि।
एक शब्द बन्धन कटै एक शब्द गल फांसि।।

**

शब्द सम्हारे बोलिए शब्द के हाथ न पांव।
एक शब्द औषधि करे एक शब्द करे घाव।।

स्पष्ट है कि कबीर को शब्द की सामर्थ्य का पूरा परिबोध था। जो कहना चाहा वह कहा और सुनने वाले के हृदय में उतार दिया। कबीर के शब्द शताब्दियों बाद भी शिक्षित अशिक्षित सभी के मन, मस्तिष्क और जिह्वा पर विराजमान है। कबीर की इसी शब्द सामर्थ्य को समझ कर आचार्य हजारी प्रसार द्विवेदी लिखते हैं "भाषा पर कबीर का जबरदस्त अधिकार था। वे वाणी के डिक्टेटर थे। जिस बात को उन्होंने जिस रूप में प्रकट करना चाहा उसे उसी रूप में भाषा से कहलवा लिया, बन गया तो सीधे सीधे नहीं तो दरेरा दे कर। भाषा कबीर के सामने कुछ लाचार सी नजर आती है।" "इनमें कोई सन्देह नहीं कि भाषा कबीर के आगे विवश थी क्योंकि कबीर की दृष्टि में प्रधानता थी भाव विचार की, अभिव्यक्ति के माध्यम की नहीं। उन्हें अपनी बात कहनी थी और सुनने वाले को समझिनी थी। बस इसी पर उनकी दृष्टि थी। भाषाशास्त्री, साहित्याचार्य, कवि कोविद की ओर देखने का न उन्हें अवकाश था और न ही उनसे कुछ कहना था । जिस "सामान्य मनुष्य" या आज की शब्दावली में "आम

आदमी" के प्रबोधन के लिए आत्मानुभव को शब्द की गागर में भरा वह उसके लि बोध गम्य हो यही कबीर का अभीष्ट था। **जैसा श्रोता वैसी भाषा का सिद्धान्त ही कबीर का अपना दृष्टिकोण था, खिचड़ी पकती हो तो पके पर संदेश क नमक अवश्य हो।** कबीर ने स्पष्ट रूप से कहा है-

संस्कृत है कूप जल, भाखा बहता नीर।

वहती नदी से जल भर लेना और प्यास बुझा लेना सरल ही नहीं सर्वसुलभ भी है, न साधन की आवश्यकता है और न श्रम की, अंजली बांधो, नमित हो और ले लो जल अपने हाथों में। भाषा को ले कर आलोचना करने वालों को कबीर अपने कबीरी अन्दाज में कह भी देते हैं-

संस्कृत ही पंडित कहै बहुत करै अभिमान।
भाषा जानि तरक करै ते नर मूढ़ अजान।।

और इस प्रकार भाषा पर वाद विवाद, या तर्क कुतर्क पर लगा दिया विराम। कबीर की अभिव्यंजना शैली का यही अपना सौन्दर्य है।

शैली- भाव विचार को व्यक्त करने का माध्यम है भाषा और प्रस्तुति की पद्धति है शैली। काव्याचार्यों ने पद्धति अथवा शैली को रीति का ही समकक्ष माना है। अभिव्यंजना की रीति का काव्य में इतना महत्व है कि अनेक काव्य सम्प्रदायों में रीति सम्प्रदाय भी महत्वपूर्ण स्थान रखता है। इस सम्प्रदाय के प्रवर्तक आचार्य वामन ने तो रीति को काव्य की आत्मा के रूप में ही स्थापित किया है "रीतिर्काव्यस्यात्मा" हर कवि की पद रचना अपनी विशिष्टता लिए रहती है और यही विशिष्टता रीति की संज्ञा से अभिहित हुई है। आचार्य भामह ओर दण्डी रीति को देश से सम्बद्ध करते हैं तो आचार्य कुन्तक की दृष्टि में रीति कवि स्वभाव से अधिक कुछ नहीं है। आचार्य विश्वनाथ ने गुण, वर्णसंघटन, समास तीनों को जोड़कर रीति को शैली के रूप में स्थापित किया है।

हिन्दी साहित्य की सन्त काव्य परम्परा के उन्नायक कबीर का अवतरण मुक्ति दूत के रूप मे हुआ। "समरथ का परवाना" ले कर आने वाले कबीर ने मानसिक, धार्मिक सामाजिक सभी प्रकार के बन्धनो से मुक्ति प्राप्त कर लेने का ही संदेश अपनी बानियों में पिरोया है। चिर मुक्ति पथ का पथिक किसी भी प्रकार के बन्धन कभी भी स्वीकार करेगा, यह सम्भव नहीं। बन्धन बन्धन ही है फिर चाहें वह साहित्य शास्त्र गत हों या लोक परम्परा से उत्पन्न हो इसीलिये कबीर की साखी, सबद, रमैनी सभी मुक्तक काव्य विधा के अन्तर्गत ही आते हैं। स्पष्ट है कि कबीर अपनी अनुभूति मे

या अभिव्यक्ति मे सिद्धान्त के बन्धन स्वीकार कर चलने वाले नही थे किन्तु यदि चलने के बीच काव्य शास्त्रीय सिद्धान्त सहज रूप से आ गए तो उन्हें ढकेला भी नही बल्कि तटस्थ भाव से स्वीकार कर लिया। ऐसी परिस्थिति में शैलीगत सैद्धान्तिकता को कबीर काव्य के हाते में हांक कर लाना बहुत समीचीन नहीं है फिर भी कबीर की शैली में वह सब उपादान सुलभ है जिन्हें आचार्य विश्वनाथ शैली के संयोजक मानते हे अर्थात गुण, समास और वर्ण संगठन। कबीरदास की शैली में तीनो ही गुणों का सम्यक सम्गुंफन है। कबीर की भगवद्रति में **माधुर्य गुण** का अत्यन्त मनोरम समाहार हुआ है। कबीर के प्रसिद्ध पद "दुलहिन गावहु मंगलचार" में या फिर राम के प्रति निवेदित सम्बन्ध भाव में -

हरि मेरा पिउ मै हर की बहुरिया।
राम बड़े मैं छुट्टक लहुरिया।।

'र' कार और 'ट' कार जैसे वर्ण प्रयोग के बाद भी शैली में जो माधुर्य है, लालित्य है वह अप्रतिम है। इसी प्रकार माधुर्य भाव से ओत प्रोत है उनकी निम्न उक्ति-

बालम आओ हमारे गेह रे।
तुम बिन दुखिया देह रे।

माधुर्य के बाद दूसरा गुण आता है **ओज**। ओज तो कबीर की प्रबोधक साखियो मे भरा पड़ा है। ओज का कोशीय अर्थ है तेज या दीप्ति। अतः जिन शब्दों को सुन कर श्रोता में स्फूर्ति या आवेश का संचार हो जाए वह ओज गुण के अर्न्तगत ही आते हैं दृष्टव्य है कबीर की अत्यन्त प्रचलित साखी-

माला फेरत जुग गया गया न मन का फेर।।
करका मन का डार दै मनका मनका फेर।

जिस ओजस्विता के साथ कर की माला फेकने के बात कही गई है वह निश्चय ही मन में आवेशात्मक संकल्प जगाती है। जन मन का प्रबोध करते हुए कबीर ने जहाँ सत्यदर्शन कराने का और सत्य स्थापन का प्रयास किया है वहां सहज ही ओज का समावेश हो गया है-

अवधू छांडहु मन विस्तारा,
सो पद गहहु जाहि ते सदगति, पार ब्रह्म सो न्यारा,
नहीं महादेव नहीं मोहम्मद, हरि हजरत कछु नाहीं
कहहिं कबीर सुनहु हो अवधू, आगे करहु विचारा।

उपरोक्त पंक्तियों में प्रसुप्त ज्ञान के लिए जो ललकारा है वह हृदय न छुए ऐसा

किन्तु सन्त साहित्य में एसी किसी नियोजना या स्मरण के बहाने के लिए दूर दूर तक कोई स्थान नहीं था। दिव्य ज्ञान के प्रकाश में आत्म साक्षात्कार करना और फिर इस आत्मसाक्षात्कार से प्राप्त आत्मानुभव को समरस भाव से जनमन को बांट देना यही कबीर का लक्ष्य था क्यों कि वह एक संत थे। कबीर के ही शब्दों में-

सरवर तरवर संत जन चौथा बरसे मेह।

परमारथ के कारने चारों धारी देह।।

जिसके जीवन का लक्ष्य ही परमार्थ हो वह संचय से दूर रहेगा, अब यह सचय चाह धन का हो या सुन्दर शब्दों का हो। काया की सुन्दरता में कबीर की आस्था नही थी, उज्वल आत्मा ही उनका अभीष्ट था। अपने इस मनोभाव को कबीर ने पतिव्रता क सौन्दर्य को बताने में व्यक्त किया है-

पतीब्रता मैली भली काली कुचित कुरुप।

पतीब्रता के रूप पर वारौ कोटि सरुप।।

स्पष्ट है कि कबीर के लिए उज्जवल अर्थ की बोधक काली कुचित कुरूप भाषा भी वन्दनीय थी। रीतिकाल के कवियो का सोच "भूषन बिन न विराजिए कविता वनिता मित्त" कबीर आदि सन्तों भक्तों का नहीं था। इस विवेचन का यह अर्थ नही कि कबीर की साखी सबद रमैनी में अलंकारों का प्रयोग हुआ ही नहीं। कबीर की बानियों में उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, यमक, विरोधाभास, अन्योक्ति, तुल्योगिता आदि की भरमार है, दृष्टान्त तो साखी का प्राण है लेकिन यह अलंकार कबीर की भाषा में आए है, लाए नही गए हैं। आत्म अनुभव प्राप्त व्यक्ति की उपमा चित्रलिखित दीप से देते हुए कबीर कहते हैं-

आतम अनुभव जब भयो तब नहि हर्ष विषाद।

चित्र दीप सम है रहै तजिकर बाद विवाद।।

कबीर की निम्न साखी में तो **यमक** का चमत्कारिक सौन्दर्य समाहित है-

कबीर सोई पीर है जो जाने पर पीर।

जे पर पीर न जानई सो काफिर बे पीर।।

कबीर की निम्न साखी में सहज ही **अनुप्रास** का सौंदर्य भर उठा है-

काजर केरी कोठरी मसि के किए कपाट।

पाहन भूली पिरथवी पंडित पाड़ी बाट।।

गेय पद के अन्तर्गत "सन्तों आई ज्ञान की आंधी" उनके **साङ्गोपांङ रूपक** का विलक्षण उदाहरण है। कबीर ने **दृष्टान्त अलंकार** का तो मुक्त भाव से प्रयोग किया

हे

मूड़ मुड़ाए हरि मिलै सब कोई लेहु मूड़ाए।
बार बार के मूड़ने भेंड़ न स्वर्गहि जाए।।

यों तो कबीर की उलटवासियों में सर्वत्र विरोधाभास की अनुगूंज है ही उनकी साखियों में **विरोधाभास अलंकार** अनजाने सगुम्फित हो गया है-

''चिउंटी के पग हस्ती बांध्यो छेरी बीन रखावै''

कबीर की उलटबासीयां तो अन्योक्ति का कोष हैं।

देखि कबीरा जागि मंछी रूषा चढ़ि गई,

इन उलटवासियों में अन्योक्ति का चमत्कार है। कबीर की हठयोगिक साधना सम्वान्धित गूढ़ उक्तियां अपनी प्रतीकात्मकता में ज्ञानियों के लिए विशिष्ट अर्थ प्रतिपादित करती हैं।

समन्दर लागी आगि नदिया जल कोइला भई

इसी प्रकार कबीर की वानियों में गुंथे अनेक अलंकारों मे **तुल्योगिता** भी ह-

सन्त न छाँड़ै सन्तई कोटिक मिले असन्त।
मलय भुजंगम बेधिया सीतलता न तजन्त।।

सारांश यह कि कवि कर्म के प्रति उदासीन रहते हुए भी कबीर के कथन में, दिव्य और अलौकिक की वन्दना और अनुभव व्यंजना में जिस सुन्दरता के साथ अलंकारो का संगुम्फन हुआ है वह स्तुत्य है वर्षाकालीन भूमि पर यत्र तत्र जैसे दूर्वा के कमनीय अकुर फूट आते है कुछ वैसे ही कबीर की भाषा में नैसर्गिक रूप से अलंकार उग आए है। कबीर कवि भले ही न हो पर वचन प्रवीण अवश्य है।

रस– मनुष्य का मन विविध भावों की लीला भूमि है। कुछ भाव मनुष्य के हृदय मे जन्मतः स्थायी रूप से वर्तमान रहते हैं और कुछ भावप्रसंग और परिस्थिति सापेक्ष्य होते हैं जो स्थायी भावों को गति देते हैं। भावों की आधार भूमि मनुष्य का मन है ओर विस्तार जीवन है। शास्त्रीय परिप्रेक्ष्य में यदि रस पर विचार करें तो स्पष्टतः ''रस्यते आस्वाद्य ते इति रसः'' और ''सरते इति रस.'' के द्वन्द से मुक्त जो मुख्य तत्व सामने आता है वह है आनन्द। जो आनन्दमय है वह रसमय है। अतएव आनन्द और रस यदि पर्यायवाची नहीं है तो एक सिक्के के दो पहलू अवश्य हैं। आचार्य विश्वनाथ ने रस को चिन्मय, ब्रह्मानन्द सहोदर तथा लोकोत्तर चमत्कार प्राण कहा है। रस को ब्रह्मानन्द के रूप मे मानने का मुख्य उदगम है तैत्तिरीय उपनिषद। इस उपनिषद में

'रसो वैसः' कहकर ब्रह्म को ही आनन्द रूप में प्रकाशित किया गया है। रस और आनन्द अभेद्य है अतः काव्यानन्द और ब्रह्मानन्द सहोदर हैं। कबीर के सन्दर्भ में इसे या प्रस्तुत किया जा सकता है कि **जहां ब्रह्म है वहीं आनन्द है और जहां आनन्द है वहीं रस है** कबीर ने अपनी बानी में इस सत्व को प्रकाशित किया है। कबीर की इस एक साखी में ही रस मीमांसकों द्वारा प्रयुक्त तीनों शब्दों का समाहार हो गया हे कबीर कहते हैं-

सदा अनन्द दुग दन्द व्यापै नहीं पूरनानन्द भरपूर देखा।
भर्म और भ्रान्ति तहं नेक न पाइए कहैं कबीर रस एक पेखा।।

कबीर दास की उपरोक्त साखी में तीन शब्द विशेष रूप से विचारणीय हैं (१) सदा आनन्द (२) पूरंनानन्द (३) रस। एक तत्व और है वह है निर्विकल्पता या निर्द्वन्दता, या निर्बाध रस प्रवाह। आचार्यों द्वारा निर्दिष्ट चिन्मयानन्द या चिदानन्द ही सदानन्द हे और पूर्णानन्द है ब्रह्मानन्द। लोकोत्तर आनन्द की अनुभूति कराने वाला ब्रह्मानन्द ही रस है। कबीर की रस दृष्टि की परिचायक उपरोक्त एक साखी ही स्वयं में पूर्ण है।

जो भी जन मन और जग जीवन का व्याख्याता होगा वह रस का ज्ञाता और भोक्ता भी होगा अव वह चाहें कवि हो या भक्त संत। आनन्द किस का अभीष्ट नही है? योगी हो या भोगी सभी जीवन की हर सांस के साथ आनन्द की साधना और कामना करते हैं योगी के लिए यह ब्रह्मानन्द सहोदर रस गूंगे का गुड़ है जिसका माधुर्य अनिवर्चनीय है और भोगी के लिए चरम ऐन्द्रिक सुख का विधायक है जहां केवल रस के आस्वादन की अनुभूति है और है अनुभाविक अभिव्यक्ति।

कबीर की बानियों को अक्खड़ फकीर की रूखी सूखी बानी के कटघरे में विचारकों ने कुछ इस ढंग से बन्द कर दिया है कि लोग सोच ही नहीं सके कि कबीर में भी रस हो सकता है किन्तु मरुस्थल में भी मंदाकिनी की झलक ही नहीं शीतलता भी मिल सकती है इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता है। जब जगत रसमय है जगत नियन्ता रसमय है तव उनका साधक रसहीन कैसे हो सकता है? भारत के संत और भक्त ससार के बीच ही धूनी रमाते है, करताल बजा कर नाम संकीर्तन करते है संसार से पलायन कर के नहीं, अतः परमानन्द के साधकों की वाणी में रस प्रवाह सहज स्वाभाविक है। मध्यकालीन कवि भक्तों में सूर तुलसी जायसी सभी को रस सिद्ध कवीश्वरों की उपाधि मिली है, नहीं मिली है तो केवल कबीर को।

आचार्य भरतमुनि, आचार्य मम्मट, आचार्य धनन्जय, आचार्य विश्वनाथ आदि शास्त्र प्रणेताओं ने रस की विस्तृत विवेचन की है। 'उत्पत्ति' और 'निष्पत्ति' शब्दो

को आधार बना कर अनेक रस सिद्धान्तों का विस्तृत विवेचन किया है कबीर क सन्दर्भ में उन सिद्धान्तों का उल्लेख करना व्यर्थ का उलझाव उत्पन्न करना है।जो उल्लेखनीय है वह केवल रस के संयोजक तत्व हैं। रस का संयोजन किन तत्वों के सहारे होता है इसे जाने बिना किसी भी कवि की रस सृष्टि पर प्रकाश डालना कठिन है। नाटयशास्त्र के प्रणेता आचार्य भरत ने सर्वप्रथम रस की सांगोपांग विवेचना की है। आचार्य भरत के अनुसार "**विभावानुभाव व्यभिचारि संयोगाद्रस निष्पत्ति**"। विभाव अनुभाव और संचारी भाव ही रस के संयोजक तत्व है। आश्रय के हृदय म स्थित स्थायी भाव जब कारण बने हुए आलम्बन विभाव के द्वारा जागृत होते हैं और फिर उससे सम्बद्ध चेष्टाओं आदि के द्वारा उद्दीप्त होते हैं तब स्वाभाविक है कि जन सामाजिक पर जागृत भाव की आनुभाविक अभिव्यक्ति हो। यह अभिव्यक्ति आश्रय की आंगिक, वाचिक, सात्विक चेष्टाओं द्वारा होती है। रसोद्भव की स्थिति में व्यभिचारी भाव या संचारी भाव आते जाते जागृत भाव को और भी परिपक्वता प्रदान कर जाते हे। संयोजक तत्वों के सहयोग से स्थायीभाव जिस आनन्दमयी तन्मयावस्था को सम्मुख लाता हैं वही रस है।

आचार्यों ने स्थायी भाव की संख्या नौ निरूपित की है यद्यपि की भरत न नाटयशास्त्र के सम्बन्ध में केवल आठ अस्थायी भाव और आठ रस का ही उल्लख किया है। "**रतिर्हासश्च शोकश्च क्रोधोत्साहौ भयं जुगुप्सा विस्मयेश्चेश्चित स्थायी भावाः प्रकीर्तितः** और इसका कारण है नाटक का लोकरंजक रूप। निर्वेद या वैराग्य मे ससार की असारता ही प्रधान होती है। अतः रंजन के साथ उसकी संगति नहीं बैठती किन्तु काव्य मे आरम्भ से ही नौ स्थायी भाव को महत्व प्राप्त हो गया था। कवि कर्म के सम्बन्ध में जिन नौ स्थायी भाव और नौ रसों का उल्लेख मिलता है वह निम्न है-

(१) रति, (२) हास, (३) शोक, (४) क्रोध, (५) उत्साह (६) भय, (७) जुगुप्सा, (८) विस्मय, (९) निर्वेद इन्ही नौ स्थायी भावों की पूर्ण परिपक्वावस्था ९ रसों की संज्ञा प्राप्त करती है ***(१) श्रृंगार (संयोग वियोग) (२) हास्य, (३) करुण, (४) रौद्र, (५) वीर, (६) भयानक, (७) वीभत्स, (८) अद्भुत, (९) शांत।***

भक्तों एवं सन्तों की काव्य कृतियाँ या बानियां सामान्यतः भक्ति के अन्तर्गत आती हैं। भक्ति पारमार्थिक भावप्रवणता का पुंज होती है। हिन्दी के मध्यकाल का साहित्य भक्ति का एक ऐसा पावन प्रवाह है जिसने जन मानस को भिगोया ही नहीं प्रत्युत आकंठ डुबोया भी है। पारलौकिक आनन्द की जो रसधार संत और भक्त कवियों की लेखनी से प्रवाहित हुयी वह निर्विकल्प है। मनुष्य की जीवन सरिता लौकिक

और पारलौकिक दो तटों क बीच प्रवाहित होती है मनुष्य का लौकिक या भोतिक प्रेम 'रति' स्थायीभाव की ही अभिव्यक्ति है तो लौकिक मनुष्य का अलौकिक पुरुष ब्रह्म के प्रति अर्पित प्रेम रति भाव की सीमा मे क्यों नहीं आ सकता? एक यदि मानवीय रति है तो दूसरी भगवदीय रति है। भक्ति को रसान्तर्गत लाने के लिए विचारकों और मीमांसकों को अच्छा खासा बौद्धिक व्यायाम करना पड़ा। काव्य प्रकाश के रस विवेचन के अन्तर्गत भक्ति पर विचार करते हुए लिखा गया है "इन नौ रसों के अतिरिक्त कुछ लोग भक्ति रस को भी अलग रस मानते हैं। इसकी स्थापना साहित्यिक क्षेत्र में न हो कर धार्मिक क्षेत्र में हुई है। साहित्य शास्त्र में इसकी गणना देवादिविषयक रति क रूप में भावो मे की गई है। उसे रस नही माना गया है, परन्तु गौड़ीय वैष्णव उसको अलग रस ही नहीं प्रत्युत सर्वश्रेष्ठ रस मानते हैं। रूप गोस्वामी ने अपने "भक्ति रसामृत सिन्धु तथा 'उज्वल नीलमणि' नामक ग्रन्थों में भक्ति रस का प्रतिपादन वडे विस्तार से किया है। वह कृष्ण को साक्षात भगवान मानते हैं अतः तदविषयक रति का देव विषयक रति से भिन्न स्वतंत्र भक्ति रस माना है।" यह मानना एक भक्त का मानना है। एक स्वतंत्र आलोचक या विचारक का मानना नहीं है। रूप गोस्वामी ने आश्रय, आलम्वन, उद्दीपन, अनुभाव और संचारी भाव का जो ढांचा खडा किया है वह भगवदीय रति के ढांचे से भिन्न नहीं है। भक्त ही आश्रय है, भगवान आलम्वन ह, उनका रूप एकान्त पावन स्थल, संत समागम उद्दीपन है, संकीर्तन, आत्म विस्मृति हंसना, रोना, अनुभाव है, मति, ईर्ष्या, व्रीडा आदि संचारी भाव हैं। भगवदीय रति का यह ढांचा स्वयं में एक ऐसा सांचा है जिसमें सभी भगवद प्रेमी संत भक्त सहज ही रूपायित हो सकते हैं।

कवीर दास में जिस भगवदीय रति भाव का पूर्ण परिपाक हुआ है उसे पार लौकिक **श्रृंगार रस** की संज्ञा दी जा सकती है। रस राज श्रृंगार का अंकन कवीर ने अपनी उदभावना में जिस पूर्णता से किया है उस पर विस्मित चकित हुए विना नहीं रहा जा सकता। प्रेम के संयोग और वियोग दोनों ही पक्षों का कवीर ने वड़ी सात्विकता से अकन किया है। कवीर का विरहांकरन तो अत्यन्त मर्मस्पर्शी है। भगवदीय रति जन्य श्रृंगार रस में आश्रय तो कवीर हैं और आलम्वन हैं प्रियतम प्रभु जिनका वरण भारतीय परम्परा और मर्यादानुसार कवीर ने पति रूप में किया है। जहां तक दिव्य श्रृंगार के संयोग पक्ष का प्रश्न है कवीर दास ने मन से लेकर देह तक के मिलन का मधुरिम वर्णन किया है। मिलन के लिये उत्कंठित कवीर अपने पति परमेश्वर के स्वागत का मंगल साज सजाते हुए दिखते हैं-

दुलहिन गावहु मगलचार,

हम घर आए हो राजा राम भरतार।

संयोग की इसी पारलौकिक मिलन की व्यंजना बडी भव्यता से निम्न पद में की है-

बहुत दिनन में प्रीतम आए।

भाग बड़े घर बैठे पाए।।

मंगलचार माहिं मन राखौ राम रसाइन रसना चाखौ

मंदिर मांह भया उजियारा लैसूती अपना पीव पियारा।।

जीवात्मा और परम प्रियतम का यह मिलन पत्नी की भांति पति पर एकाधिपत्य की भावना जगा देता है-

नैना अन्दर आव तू नैन झांपि तोहि लेहुं

न मै देखूं और को न तोहि देखन देहुं।

तन्मयासक्ति की यह एकान्तिकता और अनन्यता एकनिष्ठ प्रेम का अदभुत उदाहरण है। शैय्या सुख दाम्पत्य जीवन का अपरिहार्य अंग है अतः कबीर अपन परमात्मा पति से निवेदन करते हुए कहते है-

सब कोई कहे तुम्हारी नारी मोको यह सन्देह रे

एक मेव है सेज न सोवै तब लगि कैसा नेह रे।

फिर तो कबीर ने पलंग सजाने में विलम्व नहीं किया-

नैनो की कर कोठरी पुतरी पलंग विछाय।

पलकन की चिक डारि कर पिय को लिया रिझाय।।

उपरोक्त उदाहरणों में **श्रृंगार के संयोग पक्ष** की पूर्ण रचना हुई है। आश्रय कबीर के हृदय में आलम्बन प्रियतम प्रभु के सहारे दिव्य प्रेम जागृत हो जाता है प्रभु मिलन की कल्पना, प्रिय की महिमा जागृत प्रेम को फिर उद्दीप्त करती है, सेज सजाना, चिक डालना और फिर प्रिय को रिझाना आंगिक वाचिक सात्विक तीनों ही प्रकार के अनुभावों का पुज है, सम्वन्ध कल्पना ओर मिलन सुख में स्मृति, पुलक आदि संचारी भावों का संगुफन है। रस संयोजन में कहीं कोई त्रुटि नहीं है।

प्रेम की पराकाष्ठा और पूर्णता विरह के विन्दु पर ही अनावृत होती है। कबीर की पारलौकिक विरह की अनुभूति लौकिकता के धरातल पर अनुभवगम्य है। पढ़ कर सुन कर हृदय विह्वल हुए विना नहीं रहता। विरह सम्वन्धी उक्तियों की मार्मिकता अत्यन्त प्रभावित करती है। कबीर के विरह का आरम्भ प्रिय वियोग के दुःख से होता है। वियुक्त प्रियतम का आह्वान करते हुए कबीर कहते हैं-

बाला आउ हमारे गेह रे,
तुम बिन दुखिया देह रे,

यह दुःख स्वाभाविक है क्यों कि विरह रूपी भुजंग ने डस लिया है-

विरह भुजंगम डस लिया मंत्र न जाने कोय।
राम वियोगी न जिए जिये तो बावरा होय।।

राम का विरह कोई साधारण विरह नहीं है उसने विरहिणी के शरीर को धुन दिया है, तन रबाब हो गया है, नसे रबाव की तांत की तरह प्रिय का राग अलाप रही है आंखों से निरन्तर अश्रुधारा बह रही है-

नैना नीर लाइया रहट बहै निसि धाम।
पपिहा ज्यौं पिउ पिउ करौ कब लौ मिलोगे राम।।

पंथ निहारते निहारते आंखों में झांई पड़ गई है नाम पुकारते पुकारते जीभ में छाले पड गए हैं पर विरहणी की इच्छा पूरी नहीं हुई, राम नहीं आए। कबीर ने साधारण विरहिणी की भांति विरह की दस दशाओं को पार कर अंतिम दशा अर्थात मरण दशा स सम्बन्ध जोड़ लिया है। अपनी इस भावना को कबीर ने बड़े हृदयस्पर्शी रूप में प्रस्तुत किया है-

यह तन जारौं मसि करौं लिखौ राम को नाऊँ।
लेखिणि करौं करंक की लिखि रामहि पठाऊं।।

पारलौकिक **विप्रलम्भ श्रृंगार** की मर्मभेदी अभिव्यंजना कबीर की अपनी विशेषता है। दोहराने की आवश्यकता नहीं कि भगवदीय रति के इस पक्ष में भी रस के समस्त उपागों का सम्यक समाहार हुआ है।

शान्त रस– रति और निर्वेद तो भक्ति का प्राण तत्व हैं। संसार की असारता सारतत्व की प्राप्ति की प्रेरणा देती है। संत साहित्य तो विशेप रूप से शान्त रस का सागर है किन्तु शान्त रस का स्थायी भाव निर्वेद या वैराग्य सीमा में असीम के साक्षात्कार के लिए अभिप्रेरित करता है। शान्त रस की उक्तियो से तो कबीर का काव्य भरा पड़ा है संसार क्षण भंगुर है-

पानी केरा बुदबुदा अस मानुस की जात
देखत ही छिप जायगा ज्यों तारा परभात।

**

कबीर कहा गरबिए काल गहे कर केस।
न जाणौ कहां मारसी कै धरि कै परेदेस।।

सातो सब्द जु बाजते घड़ि घड़ि होते राग,

ते मन्दिर सूणौ पड़ै बैसणि लागे काग,

**

जगत चबेना काल का कछु मुख में कछु हाथ

संत जब जगत की इस क्षणिकता और असारता का अनुभव करता है तो सहज ही उसके हृदय में निर्वेद का उदय होता है। काया की रुग्णता, जरा, मरण, उस भाव को उद्दीप्त करते हैं। वाचिक रूप में बहुधा संत और भक्त अपनी अनुभूति व्यक्त करते हैं। कबीर के शब्दों में-

कहाचिणावे मेड़िया लाम्बी भीत उसार।

घर तो साढ़े तीन हाथ घना तो पौने चार।।

स्मृति संचारी रूप में भाव को रस के बिन्दु तक पहुंचा देती है।

करुण रस – भक्ति के क्षेत्र में शान्त और करुण रस लगभग बिम्ब प्रतिबिम्ब रूप में ही स्थित होते हैं। सम्बन्धों की निःसारता जहां जग माया का परिबोध कराकर निर्वेद को जगाती है, वहीं शोक की कातरता भी जागृत कर देती है। निम्न उदाहरण कबीर के करुण रस का उत्कृष्ट उदाहरण है-

मन फूला फूला फिरे जगत में कैसा नाता रे,
मात कहे यह पुत्र हमारा बहिन कहे बिर मेरा।
भाई कहे यह भुजा हमारी नारि कहे नर मेरा
पेट पकड़ि के माता रोवै बांह पकड़ के भाई
लपटि झपटि के तिरिया रोवे हंस अकेला जाई

प्रिय जन की मृत्यु ने सम्बन्धों की माया को तार तार कर बिखरा दिया है। मां भाई बहन पत्नी सभी कातर करुणा पुकार कर रहे हैं किन्तु जाने वाला चला गया-

चार गज चरगजी मंगाया चढ़ा काठ की घोड़ी

चारों कोने आग लगाया फूंक दियो जस होरी।

सामान्य मनुष्य के लिए शोक के इस पारावार से उबरना सम्भव नहीं है किन्तु ज्ञानी ज्ञान के सहारे इस शोक सागर को पार कर जाता है-

सोने जैसी काया जरि गई कोई न आया पासा।

कहे कबीर सुनो भई साधो छोड़ो जग की आसा।

कबीर ज्ञानी सन्त थे। अतः करुण रस का पूर्ण अख्यान करने के बाद शोक में डूबे नहीं वरन सत्य की बैसाखी थाम ली। कबीर के शब्दों में "जो फरा है उसे झरना

ही ह और जो जरा ह उसे बुझना हा ह अत जग जीवन का यह सत्य शाक स उबरने का सम्बल देता है उपरोक्त उदाहरण में आश्रय आलम्बन, उद्दीपन अनुभव और संचारी भाव सभी वर्तमान है अतः असंदिग्ध रूप से करुण रस का प्रतिपादन हुआ है।

वीर रस –जहां तक वीर रस का प्रश्न है भक्ति और ज्ञान के क्षेत्र में उसके लिए विशेष स्थान नहीं है किन्तु वीर रस के स्थायी भाव उत्साह का समाहार दया और दान के रूप मे भली भांति हुआ है। दशरूपक कार धनंजय के अनुसार वीर रस केवल युद्ध प्रधान नहीं होता उसका स्थायी भाव उत्साह है। वह उत्साह जैसे युद्ध के लिए हो सकता है उसी प्रकार दया और धर्म के प्रति भी हो सकता है। दयावीर भी प्रधान रस हो सकता है'' धनंजय की इस परिभाषा के प्रकाश में देखें तो कबीर में ''दयावीर'' वीर रस के रूप मे प्रधान रूप से परिव्याप्त है। कबीर की वानियों में ''दया निरवैरता को अंग'' इस द ा ज्वलन्त उदाहरण है। दयावीर भाव से युक्त एक नहीं अनेक साखियां सुलभ है। कबी द्वारा वर्णित निम्न पद तो 'युद्धवीर' के समस्त अंगों को अपने में रूपकीय शैली समाहित किए हैं। सूरमा, शत्रु युद्धभूमि, तलवार और उसकी मार, विजयश्री आदि का सांगोपाङ्ग अंकन है। कबीर ने बड़ी सहजता से आध्यात्मिक परिप्रेक्ष्य में वीर रस का रूपकीय व्याख्यान किया है-

सूर संग्राम को देख भागै नाही,
देख भागै सोइ सूरा नाही

काम और क्रोध मद लोभ से जूझना

माया घमासान तन खेत माही
सील और सांच संतोष माही भए
नाम समसेर तहां खूब बाजै
कहै कबीर कोई जुझिए सूरमा
कायर भीड़ तहां तुर्त भाजै।।

इस चित्र से इतना तो स्पष्ट हो ही जाता है कि कबीर किसी भी रस के अंकन में पीछे नहीं थे। हां वर्णन शैली उनकी अपनी यानी कबीरी थी यह उदाहरण पूर्ण युद्धवीर का है।

रौद्र रस– अचार्य भरत ने प्रधान चार रसों में रौद्र रस की गणना की है। रौद्र और वीर में मैत्रीभाव है। रौद्र रस का स्थायी भाव क्रोध है ''परिपूर्णः क्रोधो रौद्रः'' रौद्र रस का आलम्बन शत्रु या विरोधी अहित कर कार्य करने वाला व्यक्ति होता है,

उद्दीपन होता है आलम्बन का अप्रीतिकर कार्य अनीति कटोर वचन इत्यादि अनुभाव नेत्रों का लाल होना, होंठ चबाना, कठोर भाषण करना आदि होता है। मद, अमर्ष उद्वेग, असूया स्मृति आदि भाव संचारी का कार्य करते हैं। अब प्रश्न उठता है कबीर काव्य में रौद्र रस की अभिव्यंजना का। सन्त की शान्ति प्रकृति में अमर्ष या क्रोध भाव स्वयं विसंगति ही है किन्तु प्रभु को छोड़ कर इस संसार मे सबकी सीमा है, सहन शीलता की भी एक सीमा है। बार बार चेतावनी दिए जाने पर भी यदि कोई अनीति के पथ पर चलना नहीं छोड़ता तो क्रोध स्थायी भाव का जागृत हो जाना स्वाभाविक है। कबीर तो यो भी अपनी तथाकथित अक्खड़ता और फक्कड़ता के लिए बदनाम हैं अतः मनुष्य को कुमार्ग पर चलते देख कर खीझ कर अपशब्दों का प्रयोग कर देना चौंकाने वाला नहीं है। हिंसा करना अमानवीय है फिर भी मनुष्य हिंसा करता है,ऐसी स्थिति में कबीर का बौखला कर कुबोल बोलना रौद्र की ही अभिव्यक्ति मानी जाएगी-

काला मुंह कर करद का दिल सो दुइ निवार।
सब ही रूह समान है अहमक भुला न मार
कहता हूं कहि जात हूं कहा जू मान हमार।
जाका गला तुम काटिहौ सो फिर काटि तुम्हार।

परम प्रकाशवान प्रभु की दिव्य महिमा कबीर को विस्मित करती है और फिर वह आश्चर्यजनक रूप से उससे प्रभावित होता है-

कबीर यह मन लालची, समझै नहीं गंवार।
भजन करन को आलसी, खाने को तैयार।।

**

कामी कुत्ता तीस दिन अन्तर होय उदास।
कामी नर कुत्ता सदा छह रितु बारह मास।।

**

कथते हैं करते नहीं मुँह के बड़े लबार।
मुँह काला तो होयगा साहेब के दरबार।।

उपरोक्त सभी उदाहरणों में कबीर के मन की खीझ उनका अमर्ष भाव उभर कर आया है। कबीर भक्ति और प्रेम के सीधे सरल पाखंड विहीन पथ पर मनुष्य को चलाना चाहते हैं किन्तु जब कोई अनीति पथ पर चलता ही रहता है तो फिर उनका क्रोध ललकार में बदल जाता है। हिन्दु मुसलमानों की कट्टता उन्हें काटने लगती है और फिर उनके मुख से परुष बचनों का झरना फूट पड़ता है-

अरे इन दोऊ राह न पाई,
हिन्दू अपनी करे बड़ाई गागर छुअन न देई
वेश्या के घर पांव पलोटे कहां रही हिन्दुआई
मुसलमान के पीर औलिया मुरगा मुरगी खाई
खाला केरी बेटी ब्याहें घर ही मे करैं सगाई।

ऐसा लगता है कि कवीर क्रोध से छटपटा कर कह रहे हों कि ओ नेमी धर्मी जरा अपना मुख तो देखो दर्पण मे?

उपरोक्त पद में कवीर आश्रय हैं तो राह से भटके हुए हिन्दू मुस्लिम आलम्वन है, उनकी पाखण्डी जीवन पद्धति उद्दीपन है, परुप वचन अनुभाव है और अमर्ष उद्वेग और स्मृति (पूर्वानुभव) व्यभिचारी या संचारी भाव है। क्रोध स्थायी भाव का पूर्ण रौद्र मे परिपारक हुआ है।

अद्‌भुत रस– परम प्रकाशवान प्रभु की दिव्य महिमा कवीर को विस्मित, आश्चर्याभिभूतकरती है और फिर वह आश्चर्यजनक रुप से दिव्य ऐश्वर्य से प्रभावित हो कर कह उठते हैं–

लाली मेरे लाल की जित देखौं तित लाल।
लाली देखन मैं गई मैं भी हो गई लाल।।

भक्त और भगवान के वीच आश्रय आलम्वन की स्थिति के वीच प्रभु की चमत्कारी महिमा उद्दीपन का कार्य करती है, अनुभव वाचिक भी है और सात्विक भी है। श्रुति और सम्मोहन संचारी का कार्य करते हैं। और इस प्रकार विस्मय स्थायी भाव मे अद्‌भुत रस का पूर्ण परिपाक हो जाता है। कवीर दास की उलट वाँसियां तो अदभुत रस का अनुपम उदाहरण हैं-

एक अचम्भा देखा भाई, ठाढ़ा सिंह चरावे गाई
इक चूंटी चली नइहरवा नौ मन काजर लाय।

**

हाथी मार बगल में दाबे ऊँट लियो लटकाय।।

**

एक अचरज मैं औरो देखा कुआं में लागी आगी

रस शास्त्री कवीर के उपरोक्त उदाहरणों में अचम्भा अचरज' आदि में स्ववाचकत्व रस दोप खोज निकालेगे। रस दोप के कारण रस के अस्तित्व पर प्रश्नचिन्ह नहीं लगाया जा सकता है।

वीभत्स रस – कबीर आध्यात्म के परिप्रेक्ष्य में जब भी संसार की असारता क गहन निरूपरण करते हैं तो जाने अनजाने वीभत्सता सन्निविष्ट हो ही जाती है। कबीर द्वारा लिखित अनेक पदों में यह वीभत्सता दृष्टव्य है-

जा दिन पंछी उड़ि जैहैं,
ता दिन तेरे तन तरुवर के सबै पात झरि जहैं
या देही को गर्व न कीजे स्यार काग गिध खैहैं
तन गति तीन विष्ट किर्म है न तर खाक उड़ैहैं
जिन पूतन को बहु प्रति पाल्यो देवी देव मनैहैं
तेई लै बांस दियो खोपरी में सीस फोरि बिखरैहैं।

सियार कोआ और गिद्धों का तन को नोंच नोंच कर खाना, शीश का फूट कर विखर जाना आदि का वर्णन जुगुप्सा जगाने के लिए पर्याप्त है। कबीर के अनक प्रचलित दोहों में जुगुप्सा स्थायीभाव का समावेश है, बन्दगी के लिये गोवध करना खून बहाना, या बकरी की खाल खींचना सभी में वीभत्सता की झलक है-

दिन भर रोजा रहत हैं रात हनत हैं गाय।
या तो खून व बन्दगी कैसे खुशी खुदाय।।

**

बकरी पाती खात है तिन की खैंची खाल।
जे नर बकरी खात है तिन को कौन हवाल।।

**

जे सिर रचि रचि बांधि सुपागा ते सिर रतन बिडारै कागा।
हाड़ जरै जस सूखी लकरी केस जरै जस तृन की करी।।

**

हाड़ जरै जस सूखी लकड़ी केस जरै जस घास

मनुष्य के तन की इस वीभत्स अवस्था का देखने वाला या सुनने वाला आश्रय है, तन की दुरावस्था आलम्बन है, गीध सियार काग द्वारा नोंचा जाना, सर का फटना बिखरना, हड्डियों का लकड़ी की तरह चटकना और जलना उद्दीपन है, पीड़ा अश्रु आदि संचारी है जीवन का यह वीभत्स अन्त कोई आकस्मिक नहीं सनातन है। इस सनातन सत्य के दर्शन और परिबोध में वीभत्स रस है।

भयानक रस- जहां तक भयानक रस का प्रश्न है सन्तों के लिए काल की क्रूरता और जग जीवन के अन्त की भयावहता की अनुभूति करना और जन सामान्य को कराना अपरिहार्य आवश्यकता रही है। काल की भयानकता प्रस्तुत करते हुए कबीर कहते हैं-

सुवटा डरपत रहु मेरे भाई,
सुवटा डरपत रहु मेरे भाई तोहि डराई देति बिलाई
तीन बेर रुंधे एक दिन में कबहुक खता खवाई
या मंजारी मुगध न माने सब दुनिया डहकाई।।

कबीर के अनुसार सावधान रहने में ही भय से मुक्ति मिल सकती है। कबीर मन को सावधान करते हुए कहते हैं तुम्हारे चारों और भय का ही आतंक है-

विष के बन में घर किया सरप रहे लपटाय।
तातैं जियरे डर रहा जागत रैणि बिहाय।।

कबीर ने स्वयं को आश्रय रूप में प्रस्तुत करते हुए काल की भयंकरता को सर्प के प्रतीक के रूप में प्रस्तुत किया है। जिसे चारों और से सांप घेरे हो वह सो भी कस सकता है, परिवेश की भयावहता ऑख नहीं लगने देती। कबीर कहते हैं-

अवधू जागत नींद न कीजै

**

कागद केरी नाव री पाणी के री गंग,
कहै कबीर कैसे तिरूं पंच कुसंगी संग।।

कबीर के काव्य में भयानक रस का सृजन काल की करालता और माया जाल की मोहकता के संदर्भ में हुआ है। कबीर की भय संदर्भित चेतावनी की साखियाँ और पद बहुलता से उपलब्ध हैं। कबीर कहते हैं-

जल अंजुरी जीवन जैसा ताका है किसा भरोसा।
कहे कबीर जग धंधा काहें न चेतउ अंधा।।

मनुष्य के लिये काल की भयानकता से अधिक भयावह और क्या हो सकता है । कबीर ने मुक्त भाव से उसका अंकन किया है ।

हास्य रस– प्राचीन साहित्य वेत्ता आचार्यो ने हास्य रस की विस्तृत विवेचना की है और इसे सर्वाधिक सुखात्मक रस की संज्ञा से विभूषित किया है। हास्य रस का स्थायी भाव हास है, और विभाव है विशिष्ट आकृति, आचार, व्यवहार अर्थात विकृतवेश असतप्रलाप, व्यंग दर्शन, दोषोदाहरण आदि आते है। हंसी आने पर आंगिक परिवर्तन,

बोलना, ध्वनिमय हंसना, आदि अनुभाव है और अवहत्थ, तन्द्रा प्रबोध, असूया आदि संचारी भाव है। आचार्यो ने श्रृगार, करुण, वीर, आदि रसों में भी इनका आभास दिया है। पाश्चात्य साहित्य में हास्य के पांच भेद माने गए हैं। इनमें व्यंग्य (आयरनी) और विकृति (सटायर) को विशेष महत्व दिया गया है। डा. राम कुमार वर्मा ने हास्य रस के पांच स्वतन्त्र भेदों की स्थापना कर उसकी परिभाषा देते हुए लिखा है ''इस भांति हास्य सहज विनोद से चल कर क्रमशः दृष्टि, भाव, ध्वनि और बुद्धि में नाना रूप ग्रहण करता हुआ विकृति में समाप्त होता है।'' सन्तों और भक्तों की बात छोड़ भी दे तो भी हास्य रस की कसौटी पर संस्कृत साहित्य की तुलना में हिन्दी साहित्य पिछड़ा हुआ है। संतों का लक्ष्य तो सत्य का दर्शन और सत्य का निरूपण करना था फिर भी सत्य की साधना में ही सन्तों और भक्तों ने हास्य व्यंग्य मय उक्तियों का बहुतायात से प्रयोग किया हैं, तुलसीदास का नारदमोह, प्रसंग और सूरदास का बालवर्णन, श्रृंगार वर्णन में, विशेष कर वेणुगति गीत और भ्रमरगीत में हास्य व्यंग्य विनोद का पर्याप्त पुट मिलता है।

कबीर दास की बानियो में भी हास्य, व्यंग्य और विकृति के रूप में भली प्रकार संगुम्फित हुआ है। कबीर दास का प्रचलित पद-

नदिया बिच मीन पियासी
मोहि सुन सुन आवत हांसी

हास्यास्पद स्थिति उत्पन्न करने वाली विशेषोक्ति है। विसंगति में चमत्कार उत्पन्न करते हुए जहां सामान्यजन के लिए विशुद्ध हास्य की स्थिति सृजित की वहीं तत्व ज्ञानी के लिए हठयोग का पृष्ठ खोल दिया है। मनुष्य के अप्राकृतिक क्रिया कलापों का अंकन कर कबीर ने व्यंग्य की अनुपम प्रस्तुति की है-

मूड़ मुड़ाए हरि मिले सब कोई लेइ मुड़ाया।
बार बार के मूंड़ने भेंड़ न स्वर्ग जाय।।

केश मुड़ाने से क्या स्वर्ग मिलता है? यदि यह सत्य होता तो स्वर्ग तो भेंड़ों से पट गया होगा, तुम जानो मुड़ाना हो तो मुड़ाओ। इस विग्विदधता में हास्य में लिपटा जो व्यंग्य का पुट है वह ध्यानाकर्षित करता हैं ठीक इसी प्रकार कबीर ने लिखा है-

पाथर पूजे हरि मिलैं तो मैं पूजूं पहार

ठीक तो कह रहे हैं यदि पत्थर पूजने से हरि मिल सकते हैं तो मैं पूरा का पूरा पहाड़ ही पूजे देता हूं, सारे के सारे देवता हाथ में आ जाएगे, इसमें सहज उक्ति में छिपा हुआ व्यंग्य हास्य किस पर प्रकट नहीं है? कबीर दास ने साधुओं की विकृत वेश

भूषा पर भी सटीक हास्य व्यंग्य प्रस्तुत किया है। मन तो सवादू है और तन का साधु बना लिया है भोले मनुष्यों को ठगने के लिए। कबीर दास जी ऐसे ठग साधुओं का वर्णन करते हुए कहते हैं-

कनवा फराय जोगी जटवा बढ़ौले
दाढ़ी बढ़ाय जोगी होय गइले बकरा
जंगल जाय जोगी धुनिया रमौले
काम जराय जोगी बन गइले हिजरा।।

जोगियों की इस विकृत वेष भूषा पर कबीर स्वयं भी हंसते हैं और अपने श्रोताओं और पाठकों को भी हंसाते हैं। मन से असाधु भेष से साधु लोग ही आलम्बन है, उनकी विकृति वेष भूषा उद्दीपन है, वाचिक अनुभाव है, प्रबोध और असूया संचारी हैं। हास्य रस का सांगोपांग निर्वाह है।

निष्कर्षतः हम कह सकते हैं कि कबीर की बानियों में मिलने वाली नव रस नियोजना इस बात का पुष्ट प्रमाण है कि संत कबीर रसानुभूति और रसाभिव्यक्ति दोनों में ही पूर्ण सक्षम थे।

राम रसाइन प्रेम रस पीवत अधिक रसाल।
कबीर पीवणा दुर्लभ है मांगे सीस कलाल।।

**

कबीर हरि रस यों पिया बाकी रही न थाकि।
पाका कलश कुम्हार का बहुरि न चढ़ई चाकि।।

यह सक्षमता स्वाभाविक थी क्योंकि कबीर की बानियों में मनुष्य का मन और जीवन ही मुखरित हुआ है और जीवन रसमय है। आनन्दमय है, यह आनन्द भौतिकता से उपजा क्षणिक आनन्द नहीं है, चिरन्तन आनन्द है जो लौकिक को भी अलौकिक बना देता है।

छन्द— काव्य के उपांगों में विचार हेतु एक तत्त्व शेष है और वह है छन्द। वेद के छः अंगों में छन्द एक है। छन्द का वैदिक महत्त्व है। "छन्द पादौत वेदस्य" कह कर छन्द की वन्दना की गई है। छन्द वेद के चरण है। अक्षर, मात्रा यति गति आदि की विशिष्ट नियोजना से नियमित या अनुशासित रचना छन्द के अन्तर्गत आती है। छन्द स्वयं में बन्ध है। लघु गुरु की नियत गणना, और यति एवं गति की विशेष नीति रीति का पालन कर ही छन्द की रचना की जा सकती है। चिर मुक्त, निर्बन्ध पथ का

पथिक कवीर चयन के लिए धरा पर नहा आया था जिसकी आत्मा म सगीत बहता हो,जिस की भावलहरियों की अपनी लय हो वह शास्त्रीय छन्दों से अनुवन्धित क्यों होगा? कवीर ने सबद के रूप में गेय पदों की रचना की है। सबद पदों को आत्मविस्मृत होकर गाया है और श्रोताओं को संगीत की दिव्यलय में विभोर किया है। यादि छन्द कवल लय और संगतिमय गति है तो कवीर में छन्द की कमी नहीं किन्तु यदि लघुगुरु गणना और रचना में अनुशासित छन्द मात्र लौकिक और वैदिक छन्द है तो कवीर का उनसे दूर दूर का भी नाता नहीं है। कवीर की बानियाँ साखी सवद रमैनी सभी पद्यमय है। तुकान्त और लय मय है। दोहे चौपाई और प्रगीतो का सौन्दर्य विखरा पड़ा है पर शास्त्रीय अनुशासन कहीं भी नहीं है। **छन्दमयता में छन्दहीनता कबीर** की अपनी **विशेषता है**। कवीर की साखी दोहा छन्द में ही उपलब्ध हैं, मात्राओं में तेरह ग्यारह का यति क्रम भी प्राप्त हैं पर अपवादों का भी अभाव नहीं है। उनके सवद आज भी भक्ति संगीत का प्राण वने हुए हैं। निर्गुण गान तो संगीत की शैली के रूप में उभर कर सामने आया है। निर्गुण गायकों की मंडली लोक गीत गायकों से भिन्न आज भी आकशवाणी और दूरदर्शन का आकर्षण वने हुए हैं। चैती और फाग के समय गाया जाने वाला विशिष्ट गीत रूप ''कवीरा'' के नाम से ही पुकारा जाता है। इन्द्रवज्रा ओर उपेन्द्रवज्रा, भुजंगप्रयाता या वसन्त तिलका छन्दों की रचना न करके भी कवीर का काव्य संगीतमय छन्द का प्राण बना हुआ है। कबीर की साखी, सवद, ब्रह्मनाद की भॅति जनमानस में दिव्य प्रेम की स्वर लहरी झंकृत करते हैं। शास्त्रीय छन्द वेद के चरण है और कवीर के छन्द भक्त मन की अलौकिक तरंग है।

काव्य के विविध उपादानो को निकप बना कर कवीर की भावतरंग को परखने पर जो निष्कर्ष सामने आता है वह यह है कि कवीर में भावात्मकता के विन्दु पर काव्य रस का अभाव नहीं है। यदि रस काव्य की आत्मा है तो वह मर्मस्पर्शी रूप में कवीर मे विद्यमान है। आन्तरिक गुणो की दीप्ति मे काया की सुडौलता का अन्धेरा डूब जाता है। मुक्तक काव्य और उसमें भी नीति के दोहो के प्रावुर्य ने कवीर की कविता को अभिव्यक्ति का नूतन आयाम दिया है। भाषा भले ही अनगढ हो, पिंगल का अनुशासन नकार दिया गया हो, अलंकार का उमड़ता ज्वार भी न हो, तो भी कवीर की कविता पूर्ववर्ती और अनुवर्ती कवियों मे उन्नत मस्तक के साथ खड़ी हो सकती है। कवीर ने कविता के लिए कविता नहीं की यह एक निर्विवाद सत्य है, किन्तु कविता तो हुई ही। जिस प्रकार सावन के मेघ उमड़ते हैं और बरस जाते हैं कुछ इसी प्रकार कवीर का काव्य भी भक्ति और ज्ञान का ज्वार लेकर उमड़ पड़ा है और **कविता बन**

कर बरस पड़ा बरसाया नही गया बरसती बूदे छोटी बड़ी हो सकती हैं सुगढ़ अनगढ़ हो सकती हैं, पर उनकी बूंदता पर कोई प्रश्नचिनह नहीं लगाया जा सकता है। सत्य तो यह है कि भक्ति से उनका काव्य अधिक पीछे नही हे भावपक्ष और कलापक्ष दोनो का ही सौन्दर्य पारखी आंखो को बांधता सा लगता है। कबीर की काव्यगत शक्यता या क्षमता उनकी ''बावन अक्षर'' को आधार बना कर रची हुई कविता से और भी उजागर होती है। निसन्देह बावन अक्षरों पर आधारित रचना सप्रयास है। सम्भव है कबीर ने बावनी की रचना कर अपनी कवि शक्ति का किसी चुनौती के उत्तर स्वरूप प्रस्तुत किया हो? कबीर को धर्माचार्यो साहित्याचार्यो के आरोपों का भार कम नही ढोना पड़ा। उनके स्वभाव की शुष्कता या अक्खडता जसा लाग कहते है इन आक्षेपों की ही प्रतिक्रिया है जिसने कबीर को खण्डन मण्डन की आर प्रवृत्त किया। ग्रथसाहब में संगृहित अक्षर बावनी यदि क्षेपक नहीं है तो मेरे विचार म प्रतिक्रियात्मक रचना है जिसे कबीर को लिखना पड़ा है। अक्षर बावनी की रचना क अन्त में कबीर कहते हैं-

बावन अक्खर जोरे आन। सका ने अक्खर एक पिछान।
सत का सबद कबीरा कहै। पंडित होस सो अनभै रहे।
जाके जीय जैसी बुधि होई। कहि कबीर जानैगा सोई।

स्पष्ट है कि शब्दों की जोड़ तोड़ से परे कबीर तत्व को निरखने परखने की बात कहते हैं। कलेवर में उलझा व्यक्ति आत्मा तक कैसे पहुंचेगा? आत्मज्ञान और आत्म साक्षात्कार तभी हो सकेगा जब काया को मात्र सिद्धि तक पहुँचने की सीढ़ी माना जाय कबीर द्वारा रची बावनी का प्रारूप निम्नवत है-

बावन अक्षर लोक त्रय सब कुछ इनहीं माहिं।
जेहि अक्खर खिरि जाहिगे ओहिं अक्खर इन महनाहि।।
अलह लंहता भेद छै कछु कछु पायो भेद।
इन्ह रस छाड़ै उह रस पीवा, उह रस पीवा इह रस नहिं भावा।
ओ अंकार आदि मै जाना। लिखि और मेटे ताहि न माना
कक्का किरणि कमल महि पावा। ससि बिगार सम्पट नहि आवा
खसमहिं जानि खिमा करि रहै तोहि होई निरबओ अखै पद लहै
गग्गा गुरु के बचन पछाना। दूजी बात न धरई काना।।
घघ्घा घट घट निवसै साई घट फूटै घट कभी न होई
ङंङा निग्रह सनेह करि निखारो संदेह।।

चच्चा रचित चित्र है भारी तजि चित्रै चेतहु चितकारी।
छच्छा इहै छत्रपति पासा छकि किन रहहु छाड़ि किन आसा।।
जज्जा जो तन जीवत जरावै। जोवन जारि जुगति सो पावै।।
झझ्झा उरझि सुरझि नहि जाना। रहयो झझकि नाहीं परवान
ञंञा निकट जो घट रहयो दूर कहा तजि जाई।।
टट्टा विकट घाट घट माही। खोलि कपाट महल किन जाही।
ठट्ठा इहै दूरि ठगनीरा। नीठि नीठि मन किया अधीरा।।
डड्डा डर उपजै डर जाई। ता डर माडरि रहया समाई।।
ढड्ढा ढिग ढुंढहि कत आना। ढुंढ़त ही ढह गए पराना।।
णणा रूतो नर नेही। करै नाणि बैना, फुर संचही।।
तत्ता अतर तज्यों नहिं जाई। तन त्रिभुवन में रहयो समाई।।
थथा अथाह थाह नहिं पावा। ओहु अथाह इहु थिर न रहावा।
ददा देखि जू बिनसन हारा। जस अदेखि तस राखि बिचारा।।
नन्ना निस दिन निरखत जाई। निरखत नयन रहे रतबाई।।
पप्पा अपर पार नहिं पावा। परम ज्योति त्यों परचौ लाया।
फफ्फा बिनु फूलै फल होई। ता फल फंक लखै जो कोई।।
बदौ होई बन्दगी गहे। बंधक होई बंधु सुधि लहै।।
भाम्भा भेदहि भेद भुलाना। अब भौ भानि भरौसा आवा।।
मत कोई मिलता मिल भावै। मगन भया तेसो सचु पावै।।
मन ही मन त्यौ कहे कबीरा मनसा मिल्या न कोई।
यय्या जो जानिहि तौ दुर्गति हनि कर वसि करया गाउ।
रारा रस्स निरस करि जाना। होहि निरस्स सुरस्स पहिचाना।
लल्ला ऐसे लिव मन लावै। अनत न जाई परम सचु पारवै।।
वावा वाही जानिए वा जाने इहु होई
इह अरु ओहू जब मिलै तब मिलता न जाने कोई।।
शश्शा सो नीका करि सोधहु। घट पर वाकी बात निरोधहु।।
षष्या खोज परै जो कोई। जो खोजे सो बहुरि न होई।।
सस्सा सो सह सेज संवारे। सोई सही संदेह निवारै।
हाहा होता होहि नहीं जाना। जबहिं होय तबहि सच माना।।

अनावश्यक विस्तार से बचने के लिए उपरोक्त अक्षर गत कबीर की
कर उद्धृत की है। इस अक्षर नियोजित काव्य में कबीर की साधनात्मक
ना का समाहार हुआ हैं अब प्रश्न उठता हैं कि क्या यह बावन अक्षरो

महल कबीर की अपनी मौलिक रचना हैं या फिर क्षेपक है बहुत शोध करने पर भी कबीर की बानियों से क्षेपक अंशों का अलग कर पाना सम्भव नहीं हो पाया है। ग्रथ साहब में जो कबीर के नाम पर मिला हैं उसे उनका मान कर संतोष कर लेना बुद्धिमानी है। अधकार में ढेले उछालने में कल्याण नहीं है। क्रमानुगत अक्षरबद्ध काव्य पक्तियों को देख कर इतना तो स्पष्ट हो ही जाता हैं कि यह रचना प्रयास जन्य है, इसम वाग्, विदग्धता है अर्थ वैचित्रय है, पर भावनाओं का वह सहज प्रवाह नहीं है जो कबीर की निजता है। कबीर की अनुभूति में यदि घनत्व है तो अभिव्यक्ति में भी चमत्कृत कर देने की क्षमता है। कबीर संत भी है भक्त भी है और कवि भी है, एक मे अनेक और अनेक मे एक हैं और वह सब कुछ भी है जिन्हे प्रकाशित करना अभी शेप रह गया है।

धर्म, दर्शन, अध्यात्म, भक्ति, उपासना, साधना, परमार्थ और लोक मंगल विधान, क्रान्तिदर्शिता अनुभूति की गहनता और अभिव्यक्ति की बहु विधि क्षमता, सत्य को स्थापित करने वाली ओजस्विता के साथ ही प्रभु की महत्ता के सामने आत्म लघुता का आख्यान स्वयं में अनुपमेय व्यक्तित्व को रूपायित करने वाली रेखाएँ हैं। कबीर जो कुछ भी हैं उसका श्रेय अपने रचनाकार को देते हुए कहते हैं -

न किछु किया न कर सका न करणौं जोग सरीर।
जो किछु किया सो हरि किया तापे भया कबीर कबीर ।।

यो तो शताब्दियों से विचारक कबीर के व्यक्तित्व और अवदान के उलझे धागों को सतत सुलझा रहे हैं किन्तु यह धागे सुलझे कम उलझे अधिक रह गए हैं।

अभिमत

कबीर की नारी भावना, धर्म दृष्टि, मानवतावादी संचेतना, सर्वात्मचेता रूप, कबीर संतों की दृष्टि में रैदास, गरीब दास, नाभा दास, पीपादास, कबीर बस कबीर है।

कबीर की नारी भावना– वेदों के समय से ही नारी मनीषियों के मनन का विषय रही है। कभी उसे पूज्या बना कर पूजित किया जाता है तो कभी उसे भोग्या रूप में प्रतिष्ठित कर निन्दित किया जाता है। देवी और दानवी रूप से परे नारी को मात्र मानवी रूप में प्रतिष्ठित कर देखने का प्रयास कम ही हुआ है। परिवेश और परिस्थिति के प्रभाव से समाज के मूल्य बदल जाते हैं। मूल्यों की परिवर्तन शीलता के साथ देखने और परखने का अदाज भी यदि वदल जाता है तो इसमें कुछ अस्वाभाविक नहीं। वैदिक काल से ले कर अव तक नारी की अस्मिता को लेकर कम खींचतान नहीं हुई है। ''यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते'' सूत्र से लेकर ''नारी नरक की खानि'' ''नारि सहज जड़ अज्ञ'' ''ढोल गंवार शूद्र पशु नारी'' योनि नहीं है नारि कभी वह भी मानवी प्रतिष्ठित ''नारी तुम केवल श्रद्धा हो'' '' एक नहीं दो दो मात्राए नर से भारी नारी'' ''युग युग से नर को रौरव का द्वार रही हो तुम'' कवियों की विविध पंक्तियां, इस बात की उद्घोषक है कि दृष्टि वदलने के दृष्य वदल जाते हैं, इस पार आती हुई नाव रुख के वदल जाने से उस पार चली जाती है। वस्तु एक ही रहती है पर बदलते हुए सन्दर्भ उसे नया अर्थ नया रूप दे देते हैं। एक दीप शिखा घर भी जला सकती है और अंधेरे में भटके हुए को घर भी पहुंचा सकती है। नारी का अस्तित्व भी कुछ ऐसा ही गंगा जमुनी है।

कवीर की समकालीन परिस्थितियां द्वन्दात्मक थी। सामन्तीय भोगवाद ने नारी का भोग का उपकरण वना दिया था। तो धार्मिक आन्दोलन ने नारी को साधना पथ में साधक और वाधक दोनों ही रूपों में प्रस्तुत किया था। कवीर युग दृष्टा और युग सृष्टा दोनो थे। ''साखी आंखी ज्ञान की'' कहने वाले कवीर ने जो अपनी खुली आंखों से दखा और जिसे ज्ञान चेतना से अनुभव किया उसे ही वाणी प्रदान कर साखी शवद रमैनी के माध्यम से साधु भाईयों के आगे परोस दिया। नारी के सम्बन्ध में कवीर ने

मौन धारण नहीं किया अपने चारो ओर फैले परिवेश में उन्होंने जो अनुभव किया उसे अपनी वानी में गूंथ दिया। नारी के **कामिनी** और **मोहिनी** रूप की निन्दा की तो सती रूप को एक निष्ठ आत्मिक प्रेम का उपमान बना दिया। यह कहना कि कबीर ने नारी की निन्दा की है समीचीन नहीं है। नारी सम्बन्धी कबीर की भावनात्मक विकास यात्रा कई मोड़ लेती हुई आगे बढ़ी है। कबीर कहते हैं-

एक कनक अरुकामिनी जग में दोई फंदा।
इनपे जो न बंधावई तिनका मैं बंदा।।

माया के इस संसार में जन्मा ऐसा है कौन जो कंचन और कामिनी के मोह से मुक्त रह सके? इनका फन्दा विकराल है यदि कोई इस फन्दे से अपने को मुक्त रख सकता है तो कबीर उसका साधुवाद करते हैं। लोक जीवन में नारी दुर्निवार मोहपाश है। माया का जीवन्त प्रतीक है नारी उस माया का प्रतीक है जो ब्रह्म को भी ठग सकती है। कबीर आध्यात्म पथ के पथिक अपने साधु भाइयों को चेतावनी देते हुए कहते हैं

एक कनक अरु कामिनी दोऊ अगिनिकी झाल।
देखे ही तन प्रज्ज्वलै परस्यां ह्वै पामाल।।

स्वर्ण और स्त्री दोनों ही अग्नि की ऐसी धधकती ज्वाला है जो देखने भर से ही झुलसा देती है, स्पर्श से तो भस्म होते देर नहीं लगेगी। इस अग्नि शिखा से तो दूर रहना ही श्रेयस्कर है। कनक और कामिनी की कबीर ने जी भर कर आलोचना की है

एक कनक और कामिनी दुर्गम घाटी दोय

**

एक कनक और कामिनी विष फल लिया उपाय
देखत हीते विष चढ़ै चाखत ही मरि जाय।।

**

एक कनक अरु कामिनी तजिए भजिए दूर।
गुरु बिच पारै अन्तरा जम देसी मुख धूर।।

आसक्ति से मुक्ति के लिए कबीर ने कनक और कामिनी दोनो से दूर रहना उपयुक्त माना हैं। सांसारिक विभव में उलझा कर धन और काम पुंज नारी मनुष्य को नरक कुण्ड में ढकेल देती है-

नारी कुण्ड नरक का बिरला थंभै बाग।
कोई साधु जन ऊबरै सब जग मूवा लाग।।

कबीर का अभिमत है कि विषय वासनाओ की उत्प्रेरक नारी अपने **मोहिनी** और **कामिनी** रूपों में आध्यात्मिक साधना पथ की बाधक है, रम्भा मेनका और उर्वशी बनकर बडे बड़े साधकों की सिद्धि नष्ट कर देती है। अध. पतन के गर्त में गिरा देती है अतः साधारण मनुष्यों की बात ही क्या। कबीर की सतत चेतावनी यही है कि शूली का वरण भले ही कर लो पर सुन्दरी का नहीं-

सुन्दरी से शूली भली बिरला बाचै कोय।

लोह निहाला आगिनि में जल बिल कोयला होय।।

लोहे सा पुरुष भी नारी की रूप ज्वाला में जल कर कोयला हो जाता है अत साधु सन्त ही नहीं प्रत्येक व्यक्ति को इसके सम्पर्क से बच कर रहना चाहिए। नारी दुर्गम घाटी ही नहीं अग्नि की विषम झार है और है भुजंगिनी सी कराल-

नारी की झांई परत अन्धा होत भुंजग।

कबिरा तिन की कौन गति नित नारी के संग।

सच्चें साधक को स्त्री की छाया से भी दूर रहना चाहिए। कबीर का विश्वास था कि मोह पुंज नारी भक्ति, मुक्ति और आत्मज्ञान तीनों का ही विनाश कर देती है

नारि नसावै तीन सुख जो नर पासे होय।

भगति, मुकति निज ग्यान में पैस न सकई कोय।।

इस मोहिनी का क्या विश्वास कब किसे लूट ले कबीर कहते हैं-

कहत कबीर सुनहु रे लोई अब तुम्हरी परतीति न होई।

माया रूपी ठगिनी कब किसे ठग ले कोई नहीं जानता इसने तो सारा संसार ही भ्रमित कर रखा है-

कबीर माया मोहिनी सब जग घाल्या धाणि।

इसलिए साधक को सदा ही होशियार रहना चाहिए

कहत कबीर सुनो भई साधो।

इस ठगिनी से रहो होशियार।।

स्त्री के मोहिनी और कामिनी रूप पुरुष के लिए पतन का द्वार है कबीर की इन उक्तियो में पारम्परिक धर्म दर्शन की सैद्धान्तिकता की छाया है। सिद्धों और नाथो ने भी कामनाओं को उद्दीप्त करने वाली नारी को आत्मोन्नति के पथ की बाधा माना है। तदयुगीन सामन्तीय प्रवृत्तियों ने भी कबीर को अभिप्रेरित किया था विलासियों के आगे दर्पण रखने के लिए और साधकों को सावधान करने के लिए। नारी के इस रूप की निन्दा कबीर ने सामान्य संत की भांति की किन्तु, **'परनारी'** रूप में स्त्री के प्रति उनकी

अवधारणा उनकी अपनी है। इस अवधारणा ने समाज मे संतुलन, संयम और मर्यादा स्थापित करने की चेष्टा की है, बढ़ती हुई अनीतिकर विलासिता व्यभिचार और भोग की प्रवृत्ति को नियंत्रित करने की चेष्टा की है। मानव समाज में शिव की साधना ही कबीर के इस प्रयास का लक्ष्य हैं। ''परनारी' भोग के सम्बन्ध में चेतावनी देते हुए कामान्ध पुरुष को कबीर सजग करते हुए कहते हैं-

पर नारी पैनी छुरी बिरला बाचै कोय।
न बहि पेट सचारिए सर्व सोन की होय।।

परनारी अर्थात दूसरे की स्त्री स्वर्ण मूर्ति ही क्यों न हो उसे पैनी छूरी समझना चाहिए। स्पर्श से दूर रहना चाहिए। परनारी भोग पुरुष और प्रकारान्तर से समाज के पतन की पराकाष्ठा है। कबीर ने तदयुगीन परकीया भोग की प्रवृत्ति को देख कर ही आने वाले कल अर्थात भविष्य के शील भंग, बलात्कार और दुराचार के भ्रष्ट आचरण का अलिखित लेख पढ़ लिया था इसलिए परनारी साहचर्य की प्रवृत्ति और परिणाम को दर्पण की तरह सामने रख दिया था। कबीर इस सन्दर्भ में उदाहरण देते हुए कहते हैं

पर नारी पैनी छूरी मत कोई लावो अंग।
रावन के दस सिर गए पर नारी के संग।।

स्त्री स्पर्श तो यो ही कामाग्नि प्रज्ज्वलित करता है। उसमें भी स्त्री यदि पराई हो तो और भी घातक हो सकती है-

नारि पराई आपणी भुग्त्या नरकहिं जाहि।
आगि आगि सबरो कहै तामे हाथ न पाहि।।

परकीया का भोग कबीर की दृष्टि में आग का ढेर है इसमें हाथ न डालना ही विवेक है।

वैयक्तिक संयम और सामाजिक मर्यादा के पक्षधर कबीर पत्नी रूप में स्त्री को समादृत करते हैं, पत्नी जो सती साध्वी हो, पति परायण हो, अनन्यानुरागी और एकनिष्ठ सेवा व्रती हो, वह कबीर की दृष्टि में मान सम्मान का ही पात्र नहीं, आत्मा ओर परमात्मा के बीच स्थापित आध्यात्मिक प्रेम का उपमान भी है। चातक और मीन क अनन्यानुराग का वर्णन तो बहुत से कवियों ने किया है किन्तु **सती नारी को अनन्य एकान्तिक प्रेम के उपमान के रूप में कबीर ने ही प्रतिष्ठित किया है।** उनकी दृष्टि में-

पतिब्रता मैली भली काली कुचित कुरुप।

पतिब्रता के रूप पर वारौं कोटि सरुप।।

पतिव्रता इसलिए आदर की पात्र है क्यों कि सेवा प्रेम और अपने प्रेमास्पद पति के चरणों में उसका समर्पण परम उदात्त है। कबीर कहते हैं-

पतिब्रता पति को भजै पति पर धर विश्वास।
आन दिसा चितवै नहीं सदा पीव की आस।।

पति का प्रेम पाने के लिए, पति के मनभाने के लिए अनन्य प्रेम, एकनिष्ठ सेवा, त्याग, और समर्पण अपेक्षित है-

धन्य सुहागिन जो प्रिय मन भावै'

ऐसी सती नारी हर युग में पूजित है। कबीर ने ''सती को अंग'' शीर्षक देकर अनेक साखियों में सती की महिमा का उपाख्यान किया है-

साधु सती औ सुरमा इनका मता अगाध।
आशा छाड़ै देह की, तिनमें अधिका साध।।

**

साधु सती औ सूरमा, ज्ञानी औ गज दन्त।
ते निकसे नहि बाहुरे जो जुग जाहिं अनन्त।

**

साधु सती और सूरमा इन पटतर कोउ नाहि।
अगम पन्थ को पगधरै गिरि तो कहां समाहि।।

कबीर की दृष्टि में सती अनुपमेय है। कबीर दास की वानी में अभिव्यक्त माया रूपी मोहिनी, कामिनी नारी आदि त्याज्य हैं तो साधक आत्मा के रूप में सुहागिन पतिव्रता, समर्पणशीला, साध्वी नारी पत्नी के रूप में वरेण्य है। सती को प्रेम और समर्पण का आदर्श मान कर कबीर ने आत्मा और परमात्मा के बीच चिर ज्योतिर्मान प्रणय प्रदीप जलाया है। आध्यात्मिक प्रेम साधना की खोज मे अपने को साध्वी पत्नी और परमात्मा को पति रूप में स्थापित किया है। अपने दाम्पत्य प्रेम का भाव विभोर होकर वर्णन किया है, वह मस्त है उनके राम ने उन्हे सुहाग दिया है ''सखी सुहाग राम मोहिं दीन्हा'' यह सुहाग कबीर ने चुपचाप नहीं गा बजा कर लिया है। दुलहिन गावहु मंगल चार कह कर निवाह का बधावा बजवाया है, पति पत्नी के प्रणय को लोक की सम्मति दिलाई है-

मंदिर माहिं भया उजियारा।
लै सूती अपना पीव पियारा।।

और पत्नी रूप में कबीर ने विराट प्रेम, त्याग और अनन्यता की साधना की है

जिसमे अपने अलौकिक कन्त का अलौकिक प्रेम प्राप्त कर सके क्यो कि वह विरल सुहागिन कन्त पियारा" की कोटि मे स्थापित होना चाहते हैं। कबीर साहब "रामदेव सग भांवरि" लेने वाली नारी बन कर अपना जीवन धन्य करना चाहते हैं। जो संत नारी बन कर अपनी पारमार्थिक साधना को धार देना चाहता है वह नारी निंदक कैसे हो सकता है। कबीर ने साध्वी पत्नी के रूप में नारी की वन्दना की है।

पत्नीत्व से भी अधिक गरिमामय जो नारी रूप है वह है मातृत्व का। कबीर ने नारी के मां रूप को महिमामंडित करते हुए अपने और परम प्रभु के बीच माँ और बालक का सम्बन्ध भी स्थापित किया है-

हरि जननी मै बालक तोरा।
काहे न अवगुन बकसहु मोरा।।

माँ से अधिक ममतामय और क्षमाशील और कौन हो सकता है, शिशु के अवगुणों को क्षमा कर मां वेहिचक वक्ष से लगा लेती है।

कबीर की दृष्टि में नारी का महत्वपूर्ण स्थान है इसका प्रमाण इससे अधिक क्या हो सकता है कि उन्होंने साधना पथ में आत्म प्रतिमा का निर्माण नारी रूप में किया है। फूल को ही तो फूल कहा जाएगा कॉटे को कोई फूल कैसे कह सकता है, नारी का मोहिनी और कामिनी रूप साधना पथ पर पग पग पर चुभने वाला कांटा है और सती साध्वी रूप पति परमेश्वर की चरणवन्दना में अर्पित होने वाला फूल है जिसकी अपनी गरिमा है और है दिव्यसुवास।

प्रेम में अनन्यता और एकनिष्ठता ही उसके खरेपन की कसौटी है, निम्न दो साखियों मे नारी के दो चित्र अंकित करते हुए अपना मंतव्य दिया है-

कबीर जे कोइ सुन्दरी जाणि करे व्यभिचार।
ताह न कबहुं आदरै प्रेम पुरुष भरतार।।

**

जे सुन्दरी साई भजै तजै आन की आस।
ताहि न कबहूं परिहरै पलक न छाड़ै पास।।

कबीर ने अपने को आदर्श नारी अर्थात प्रिय की अनन्यानुरागिनी सती साध्वी के साचे में ढाला है। विचार करने की बात है कि जो स्वयं नारी बनकर आध्यात्मिक प्रेम जगा रहा है, विरह साध रहा है, द्वैत मिटा रहा है, वह निश्चित ही नारी रूप का समादर कर्ता होगा निन्दक नहीं। विषाक्त दूध को अमृत कैसे कहा जा सकता है? अमृतत्व तो विशुद्धता में है, पावनता में है और सब से अधिक अन्तः बाह्य निर्मलता में है, आचरण की पारदर्शिता में है। नारी के विषय में संत कबीर ने नीर क्षीर विवेक का

ही परिचय दिया है

कबीर की धर्म दृष्टि समझने से पहले आवश्यक है धर्म को समझना। भारत को सारे विश्व का धर्म गुरु माना जाता था। धर्म के विन्दु पर भारत पहले भी सामादृत था और आज भी है। धर्म की यात्रा आत्मा से आरम्भ होती है और फिर अपनी उदात्तता में सर्वात्म को समाहित कर धर्म ही आध्यात्मिकता की संज्ञा प्राप्त करता है। आत्मा मात्र में परमात्मा का दर्शना करना आदर और मान देना धर्म का पहला अर्थ है। आत्मवत सर्वभूतेपु की चेतना ही धर्म की आधारशिला है। जो मानवता को धारण करता है वही धर्म है। धर्म का सम्बन्ध न किसी देवता विशेप से है और न ही उस देवता की अर्चन पद्धति से है। जायसी ने ''विधना के मारग है तेते सरग नखत तन रोआं जेते'' कहकर विविध देव रूपों और उसकी अर्चना वन्दना पद्धति के वैविध्य को मात्र माध्यम के रूप में स्थापित किया है। व्रह्म तो एक ही है जो सर्वात्म रूप मे प्रतिष्ठित हैं आत्मवाद कहें या सर्वात्मवाद कहें जीव मात्र में महाचैतन्य वह परमात्मा ही उदभासित है। ''रविघट न्याय'' का उदाहरण यहां सटीक है, आकाश स्थित सूर्य एक होते हुए भी जिस प्रकार कोटि जल युक्त घटों में अस्तित्वान होता है। ठीक वैसे ही कीरी से कुंजर'' तक हर प्राणी में वह महाप्राण समाया रहता है। जिस संत को इस सत्य का अनुभव गम्य वोध हो जाता है, वह फिर कवीर की तरह कहता है ''लाली मेरे लाल की जित देखौं तित लाल'' वह भक्त तुलसी की तरह कहता है ''सियाराम मय सव जग जानी। करहुं प्रणाम जोरि जुग पानी''। कवीर तुलसी ही क्यों लगभग सभी सत्य दृप्टाओं ने चाहे वह क्राइस्ट हो, वुद्ध हो, महावीर हों, या गुरुनानक हो जीव मात्र में जगत नियन्ता प्रभु का दर्शन किया है, नर में नारायणत्व की स्थापना कर उसकी पूजा की है।

जीव जगत और व्रह्म की अद्वैतता अथवा एकरूपता की अनुभूति कवीर की धर्म भावना का सार है। कवीर कहते हैं-

तीन लोक में हमारा पसारा, आवागमन अब खेल हमारा।
हम ही आप कबीर कहावा, हमहीं अपना आप लखावा।।

यही है आत्मवत सर्व भूतेपुं की भावना अर्थात धर्म का सार, मानवतावाद। एक वार अद्वैत के इस सत्य का साक्षात्कार हो जाने पर न कोई द्वन्द शेप रहता है न कोई सघर्ष और न ही मेरे तेरे अपने पराए की भावना '' जो तू है वही मैं हूं'' का सत्य ही सारे चिन्तन पर छाया रहता है। सारे संसार की कल्याण कामना ही लक्ष्य वनती है। आत्मा और परमात्मा के मिलन पथ में बाधक तत्वों का दर्शन कराना और निवारण

कराना उनका कर्म होता है। कबीर का धर्म इसी मानवीय संवेदना मे गतिशील हुआ है। दूसरे की पीड़ा को अपनी ही पीड़ा समझना वैष्णवता की कसौटी है। ''वैष्णव जन तो तेन्हेरे कहिये जे पीर पराई जाणे रे। कबीर ने धर्म की दो टूक व्याख्या करते हुए कहा है कि-

कबीर सोई पीर है, जे जाने पर पीर।
जे पर पीर न जानई ते काफिर बेपीर।

कबीर की दृष्टि में जो दूसरे की पीड़ा को समझता हैं वही धर्मी है। इसके विपरीत आचरण करने वाला विधर्मी है। तुलसी दास ने भी कुछ इसी तरह धर्म की सीधी सपाट व्याख्या करते हुए लिखा है *''परहित सरिस धरम नहिं भाई पर पीड़ा सम नहि अधमाई।*

धर्म को मन्दिर मस्जिद, पूजा नमाज, रोजा, उपवास में देखना कबीर को स्वीकार नही था। कबीर ने अपने एक पद में विस्तृत विवेचना करते हुए अपनी धर्म दृष्टि का परिचय दिया है-

जब मैं भूला रे भाई
मेरे सदगुरु जुगत लखाई।
किरिया करम अचार छांड़ा, छांड़ा तीरथ का नहाना।
सगरी दुनिया भई सयानी मै ही इक बौराना।
न मैं जानू सेवा बन्दगी न मै घंटा बजाई।
न मैं मूरत धरी सिंहासन न मैं पुहुप चढ़ाई।
न हरि रीझै जप तप कीन्हे न काया के जारे।
न हरि रीझे धोती छांड़ै न पांचो के मारे।
दया राखि धरम को पाले जग सों रहे उदासी।
अपना सा जिव सब को जानै ताहि मिले अविनासी।
सहै कुशब्द बाद को त्यागै छांड़ै गर्व गुमाना।
सत्त नाम ताहि को मिलिहै कहै कबीर सुजाना।

इससे अधिक धर्म की परिभाषा और क्या होगी। धर्म के नाम पर धारण किए जाने वाले आडम्बरों से मुक्त होकर, सांसारिक असक्ति त्याग कर हृदय में दया धारण कर अपना सा जीव सब को जान कर, सहिष्णुता के साथ, अहंकार का त्याग कर जो व्यक्ति ''सर्वभूतहिते रताः'' का जीवन जीता है वही कबीर की दृष्टि में धार्मिक है। धर्म का मूल है विधान' और कम का मूल है सर्वजन सुखाय कर्म का

साधन है "अहिंसा" जिसे मनसा, वाचा कर्मणा व्यवहार में ढालना मानवता की पूजा के लिए आवश्यक है। मस्जिद की मीनारों पर चढ़ कर जोर जोर से खुदा को पुकारना या फिर मन्दिरों में पत्थरों को पूजना बन्दगी नहीं है, मात्र आडम्बर है, धर्म साधना मन से होती है, अनुष्ठानों से नहीं कबीर कहते हैं-

मन न रंगाए रंगाए जोगी कपड़ा
आसन मारमन्दिर में बैठे
ब्रह्म छाड़ि पूजन लागे पथरा।।

नारायण तो नर के हृदय मंदिर में निवास करता है तभी तो वह नारायण है। समाज व्यापी धर्म संभूत भ्रांतियों को ले कर कबीर अत्यन्त दुःखी है बार बार समझाने पर भी मिथ्या आडम्बरों में उलझा जन मानस चेतता नहीं। कबीर अपनी इस हताशा को व्यक्त करते हुए कहते हैं-

मेरा तेरा मनुअ कैसे इक होई रे,
मैं कहता हूं आंखिन की देखी तू कहता कागद की लेखी।
मै कहता सुरझावन हारी तू राख्यो उरझाई रे
मै कहता तू जागत रहिहों तू रहता है सोइरे
मैं कहता निर्मोही रहिहो तू रहता है मोहिरे।
जुगुन जुगुन समझावत हारा कही न मानत कोई रे।।

धर्म के नाम पर अधर्मो में डूबा मनुष्य सत्य तत्व से दूर हो गया है और सत्य दृष्टा के आत्मानुभव को मिथ्या समझ कर अस्वीकार कर देता है। पर सर्वात्म चेता कबीर निरन्तर अपनी वानियों में धर्म के सार तत्व को गूंथ कर बोलते रहते है कोई तो सुनेगा, कोई तो जागेगा

कहैं कबीर सुनो हे साधो अमृत बचन हमार।
जो भल चाहो आपना परखो करो विचार।।

सोचो तो तुम्हारा प्रभु तुमसे दूर कहां है? वह तो प्राणी मात्र के हृदयों में निवास कर रहा है, चैतन्य हो और देखो-

दुर्लभ दर्सन दूर के नियर सदा सुख वास
कहैं कबीर मोहि व्यापिया मत दुख पावै दास।।
आप आपनपौ चीन्हौं नख सिख सहित कबीर।
आनन्द मंगल गावहूं होहि अपनपौ थीर।।

कबीर की दृष्टि में अपने को पहचान कर अपने ही रूप को औरों में देखना ही धर्माचरण का सार तत्व है। कबीर कहते हैं-

घर में वस्तु नजर नही आवत, बन बन फिरत उदासी,
आत्मज्ञान बिना जग झूंठा, क्या मथुरा क्या कासी,

लगभग यही भाव कबीर की इन पंक्तियों में भी मिलता है "घर की वुस्त धरी नहि सूझे, बाहर खोजन जासी" मन में रमा राम तो दिखता नहीं मन्दिर मस्जिद मे राम रहीम पुकारता फिरता है मनुष्य, चाहे केशव कहो या करीम वह सर्वात्मा में व्याप्त है। कबीर कहते हैं घट पर पड़े परदे को हटा कर तो देखो-

पुरान कुरान सबैं बात है या घट का परदा खोल देखा।
अनुभव की बात कबीर कहै यह सब है झूठी पोल देखा।

स्पष्ट है कि जन सामाजिक जिसे धर्म समझते हैं वह धर्म नहीं अधर्म है, जहा धर्म है वहां प्रेम है और जहां प्रेम है वहां सेवा और त्याग है संघर्ष और द्वन्द नही हे घृणा और द्वेष नहीं है प्रेम और भक्ति परस्पर पर्याय है, भक्ति प्रेम का ही उदात्त रूप है इतना उदात्त इतना विराट की जीव और ब्रह्म में अभेद्य स्थापित हो जाता है कबीर के अनुसार-

सुखदायी सब जीव सो यही भक्ति परमान

जीवों के सुख का संकल्प लेकर चलने वाली भक्ति ही धर्म है और इस धर्म की व्यवहारिक अभिव्यक्ति है प्राणी मात्र पर दया भाव। कबीर ने जिस दया का उल्लख किया है वह दैन्य से उत्पन्न नहीं है वह हे शाश्वत प्रेम से उत्पन्न। कबीर स्पष्ट कहते हैं-

जहां दया वहां धर्म है जहां लोभ तहं पाप।
जहां क्रोध वहां काल है जहां क्षमा वहां आप।।

कबीर के लिए व्यवहारिकता के धरातल पर दया और धर्म समानार्थी हैं। बिना दया के भक्ति का अस्तित्व ही नहीं हो सकता वह कहते हैं-

दया का लच्छन भक्ति है भक्ति से होवे ध्यान।
ध्यान से मिलता ज्ञान है यह सिद्धान्त उरान।।

कबीर ने बड़े सहज भाव से दया, प्रेम, भक्ति और धर्म को परस्पर अन्योनाश्रित कर दिया है। धार्मिक होने का अर्थ हे अपरिमित दया, प्रेम, भक्ति और धर्म से युक्त होना, कबीर के अनुसार-

दया धर्म का मूल है, पाप मूल संताप।
जहां क्षमा तहां धर्म है जहां दया तहाँ आप।।

जिस हृदय में दया निवास करती है उसी हृदय में प्रभु का वास होता है। दया रूपी वृक्ष का मूल धर्म है, समता, एकता, सेवा, त्याग, संयम, सहिष्णुता, निरभिमानता, और

समपण इसकी शाखाए ह प्रशाखाए है पात पात पर ८ ब्रह्म विराजमान है जिसकी शीतल छाया सर्वे भवन्तु सुखिनः की शीतलता से भरी है। कवीर की धर्म दृष्टि के सन्दर्भ में इस वृक्ष को एक सज्ञा दी जा सकती है और वह है मानवता। यह मानवता अपनी संवेदनशीलता में दया भी है, धर्म भी है, भक्ति, प्रेम, सहिष्णुता, सेवा, त्याग समर्पण, एकता समता सभी कुछ है। ब्रह्म का प्रतिरूप मानव यही है। कवीर के इस मानव धर्म की आधारशिला है-

''नमन क्षमन अरु दीनता सबको आदर भाव''

कवीर की दृष्टि में धर्म क्या है यह स्पष्ट हो जाने के वाद आलोचकों के वीच व्याप्त कई भ्रान्तियों का निराकरण सहज ही हो जाता है। कवीर को अधिकांश विचारका ने हिन्दू मुस्लिम ऐक्य विधायक माना है। जो व्यक्ति जीव मात्र में ऐक्य का विधान करता हो उसके लिए साम्प्रदायिक ऐक्य का क्या अर्थ है? कवीर ने तो उन दुर्वलताओं को उन कुरीतियों और रूढियों को प्रकाश में लाने की चेष्टा की है जो मनुष्य और मनुष्य के वीच विभाजक रेखाएं खींचती है, जाति गत और सम्प्रदायगत दीवारें खड़ी करती हैं। चाहे हिन्दू मुसलमान या फिर कोई और हो, कवीर की दृष्टि में सव सांई के जीव है, सव के घट घट में वह सांई ही रमता हैं फिर विभेद कैसा? पार्थक्य कैसा? जव विभेद ही नहीं है, पार्थक्य ही नहीं है तो ऐक्य विधान की समस्या ही कहां है। ''जाति पाति पूछे नहिं कोई हरि को भजै सो हरि क होई'' का दर्शन ही कवीर की ब्रह्माण्ड व्यापी मानवीय संचेतना का आधार है।

कवीर के सम्वन्ध में दूसरी वात सर्वधर्म समन्वय की कही जाती है। यह समन्वय ऐक्य विधान की अगली कड़ी है। जिस सन्त के लिए धर्म का अर्थ ही एक हो उसके लिए समन्वय की वात कहने का औचित्य क्या है? समन्वय तो वहां होता है जहा विभेद हो, विभाजन हो। कबीर के लिए तो ''जहां दया वहां धर्म है'' की वात ही सत्य है, क्योंकि दया ही मानवीयता की आधार शिला है जिसे ऊपर स्पष्ट किया जा चुका हे। सत्य तो यह है कि कबीर ने न ऐक्य विधान किया है और न ही धर्म समन्वय वस इतना ही किया है कि उन्होंने मनुष्य मात्र को सत्य दर्शन की दृष्टि दी और फिर अपनी दुर्वलताओं और अपनी विकृतियों को देखने परखने के लिए दर्पण सामने रख दिया। दृष्टि देते हुए वह कहते है -

कांकर पाथर जोरि के मस्जिद लियो चणाय।
ता चढ़ि मुल्ला बांग दे क्या बहरा हुआ खुदाय।

यह है दर्पण और कबीर का यह कहना कि -

चीटी के पग नेवर बाजे वह भी साहेब सुनता है।

उनके द्वारा दी हुई सत्य दृष्टि है। उसी प्रकार यह कहना कि-

पाथर पूजै हरि मिलै तो मैं पूजू पहार''

स्वयं में दर्पण है और उनकी यह बानी-

लाडू लावणा लापसी पूजा चढ़ै अपार

पूजि पुजेरा लै गया दै मूरत मुख द्वार,

स्वयं में दृष्टि है। पत्थर की प्रतिमा कहां खाती है खिलाना है तो दरिद्र नारायण को खिलाओ। स्पष्ट है कबीर ने जड़ होती हुई मानवीय संवेदना को जगाने के लिए सर्वजन हिताय और सर्व जन सुखाय की भावना को गति देने के लिए रोग का निदान किया। निदान हो जाए तो निवारण में देर नहीं लगती। आडम्वरों के जाल में उलझी मानवता की छटपटाती मछली को मुक्त करने के लिए जाल काटने के लिए वन्धन मुक्त होने के लिए सहज उपाय बताया था और वह था सार्वभौमिक प्रेम का, आत्मस्थ प्रभु की पहचान का, आत्म वत सर्व भूतेपु'' के सत्य ज्ञान का।

कबीर जन मन के गायक ही नहीं प्रत्युत जन जीवन के उन्नायक थे। एक विराट जनान्दोलन के नायक थे। उनका जन हरिजन था वह न हिन्दू था, न मुसलमान, न व्राम्हण था, न शूद्र, न धनी था, न निर्धन।

कबीर के लिए वैष्णव शाक्त, शैव्य, मुल्ला, पुजारी, पादरी सभी सीधे सादे मानव मन को धर्म की झूठी भूल भूलैया में भटकाने वाले साधन थे, ऐसे साधन जिनका धर्म से दूर दूर का भी नाता नहीं था। संकीर्ण सिद्धान्तों के वन्धन में बांध कर जो मनुष्य को सच्ची मनुष्यता से दूर ले जा रहे थे। कबीर का निम्न कथन इसका प्रमाण है-

वे हलाल वे झटका मारै आग दुहूं घर लागी।

हिंसात्मक प्रवृत्तियों की बढ़ती हुई आग मानवीय संचेतना को जला कर राख कर दगी।

शताव्दियों पूर्व कबीर ने मानवता को भस्म कर देने वाली इस आग का साक्षात्कार कर लिया था। आज सर्वत्र आग ही आग दिख रही है मन्दिर भी जल रहे हैं, मस्जिद, गिरजाघर और गुरुद्वारे भी जल रहे हैं। स्वार्थ, दम्भ, सत्ता सुख, अहंकार पाशविक क्रूरता इस आग को घी के छींटे मार कर और भी भड़का रही है यह आग यदि वुझ सकती है तो केवल कबीरी पद्धति से अर्थात शाश्वत करुणा और सार्वभौमिक प्रेम से। कबीर तो कहते है कि-

घट घट में वह सांई रमता, कटुक बचन मत बोल

कटु वचनों से भी प्रहार मत करो, अस्त्र शस्त्र से प्रहार तो दूर की बात है। 'हरि जन तो प्रेम से ही भीगता है। वैमनस्य की विद्वेष की यदि आग बुझानी हो तो प्रेम की फुहारे छोड़ो। प्रेम की सरिता बहाओ। कबीर के व्यक्तित्व की यह सरलता और निर्मलता ही है जिसने संतों को भी प्रशस्ति गान के लिए अभिप्रेरित किया भक्त रैदास कहते हैं-

निर्गुन का गुन देखो भाई देही सहित कबीर सिधाई

गरीबदास ने तो उनकी मानवीय अभिचेतना के प्रकाश में लिखा है-

मगहर में तो कबर बनाई बिजली खान पठाना

कासी चौरा उड़ि गया भौंरा दोनों दीन दिवाना।

नाभादास जी ने भी अपने भक्तमाल (१५८५ ई.) में कबीर पर अपनी व्यापक प्रतिक्रिया व्यक्त करते हुए लिखा है-

भक्ति विमुख जो धरम ताहि अधरम कर गायो

जोग जगा ब्रत दान भजन बिन तुच्छ दिखायो

हिन्दू तुरक प्रमान रमैनी सब्दी साखी

पच्छपात नहीं बचन सबहिं के हित की भाखी।

निष्पक्षता और तटस्थता की विभूति से कबीर का व्यक्तित्व प्रकाशित था तभी तो कबीर मानवता का गीत गा सके। पीपादास ने कबीर के सत्य दर्शन पर टिप्पणी करते हुए लिखा है-

नाम कबीर सांच पर कास्या तहां पीप कछु पाया।

कबीर का यथार्थ और पूर्ण मूल्यांकन अगम है शब्द बौने हो जाते हैं, उनकी सामर्थ्य चुक जाती है। वस्तुतः कबीर का दर्शन,चिन्तन, मनन ध्यान कथन,उदबोधन सब कुछ विराट प्रेम भावना भावित है। सर्व भूत जगत के प्रति निश्छल सरल प्रेम मानवता को जीवित रखने वाली संजीवनी है तन मन को धोकर निर्मल करने वाली पयस्विनी प्रेम है। प्रेम से निर्मल बने हुए मन को प्रभु के पीछे भागना नहीं पड़ता प्रभु ही उसके पीछे भागता है-

कबीर मन निर्मल भया जैसे गंगा नीर।

तब पाछे लागा हरि फिरै कहत कबीर कबीर।।

आज क्रूर नृशंस हिंसक, अमानवीय ज्वलनशील प्रवृत्तियों परिस्थितियों के उत्ताप और संताप के बीच हर जागरूक प्रबुद्ध मन की एक ही पुकार है और वह है कबीर मानवता का अबीर कबीर।

परिशिष्ट

कबीर पन्थ

कवीर पन्थ पर परिशिष्ट मे विचार करने का विशिष्ट कारण यह है कि साहित्य के अध्यता के लिये कवीर का साहित्यिक अवदान, जीवन दर्शन एवं संदेश जितना महत्वपूर्ण हे उतना कवीर पंथ का एतिहासिक विकास क्रम, प्रचार और प्रसार महत्त्वपूर्ण नहीं है। प्रथमत पथ निर्माण कवीर की ज्ञान चेतना और उसकी काव्यमय उद्भावना से कहीं मेल नहीं खाता द्वितीय साक्षी वन कर अनुभूत मानव जीवन सम्वन्धी तथ्यों और सत्यों को प्रकाशित करने वाली कवीर की वाणी, परम्परा पालन और अन्धानुकरण की प्रवृत्ति पर प्रहार करने वाले उनके वचनामृत किसी नियमवद्ध सैद्धान्तिक परिपाटी की नियोजना करेंगे यह विश्वसनीय नहीं है। प्रवर्तन की प्रक्रिया को कवीर के सन्दर्भ में हम भले ही नकार दें किन्तु पंथ का कालान्तर मे प्रवर्तित हो जाना एक मानवीय संघटना है। दिव्यता और महत्ता की अनुभूति अचेतन रूप से अनुकृति को अभिप्रेरित करती है। प्रभावित हो कर अपने श्रद्धास्पद का गुणगान करना उसक कृतित्व पर व्याख्यान देना, पुष्पार्पण करना, नमन करना मनुष्य की सहज और स्वाभाविक दुर्वलता है। इस सहज मनोवैज्ञानिक कार्य व्यापार में व्यक्ति एक से दो होता है दो से तीन होता है और फिर शनैः शनैः भीड़ का रूप ले लेता है। गुरू या उपास्य के नाम पर पंथ का निमाण हो जाता है। निश्चित ही सत्यदर्शी संत कवीर ने अपने नाम से किसी पथ का प्रवर्तन नही किया किन्तु पथ तो प्रवर्तित हुआ ही और इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है सम्पूर्ण देश, देश ही क्यो विदेश तक फैले हुए कवीर मठ ओर पीठ "गादी" और समाधि।

कवीर पंथ कहने से ही एक वंधी वंधाई लीक, एक विशिष्ट सम्प्रदाय, नियम प्रतिनियम आदि का परिवोध होता है। पंथ के निर्णायक तत्व हैं, जीवन दर्शन ओर जीवन मूल्य, मूल्य प्राप्ति के लिये प्रस्तावित आचार संहिता, दूसरे से अलग दिखने के लिये वेश और भेष, इष्ट का स्वरूप और उपसना पद्धति। कवीर की वाणियों को सुनने और गुनने वाला स्पष्ट रूप से जानता है कि वर्णित उपरोक्त पंथ निर्णायक तत्वों से कवीर दूर दूर तक कहीं भी जुड़े नहीं हैं। इस सम्वन्ध में प्रियादास का कवीर पर लिखा हुआ यह पद दृष्टव्य है -

भक्ति विमुख जो धर्म सो अधरम करी गायो,
जोग, जग्य, व्रत दान भजन बिन तुच्छ दिखायो,
हिन्दू तुरक प्रमान रमैनी, सबदो साखी,
पश्चपात नहि बचन सबहिं को हित को भाखी,
आरूढ़ दसा है जगत पर मुख देखी नाहिन भनी,
कबीर कानि राखी नहीं वरणाश्रम षट दरसनी।।

स्पष्टत है कि पथ को ही अस्वीकार करने वाला व्यक्ति पंथ, वाह्याचार और वाह्याडम्बरा से मुक्त रहने वाला, आत्म चेतना और सर्वात्म चेतना की एक रूपता अनुभव करने वाला वैश्विक धर्म वेत्ता संकीर्ण पंथ में क्यों वॅधेगा फिर भी उनके नाम से पंथ का जो देश विदेश व्यापी जाल वुना गया है और जो वर्तमान में कवीर नाम के सहारे फलफूल भी रहा है उसके

अस्तित्व को अस्वीकार करना सहज नहीं है। पथ है तो उसका प्रवर्तक भी कोई होगा। प्रवर्तक का सूत्र प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से किसी न किसी प्रकार कवीर से जुड़ा होगा या फिर सजग बुद्धि के साथ जोड़ा गया होगा। अब कवीर को परोक्ष में रखने के वाद जो पहला तथ्य अस्तित्व में आता है वह है शिष्यत्त्व। इस दिशा में ऐतिहासिक साक्ष्य के अभाव मे जो भी विचारणीय सामग्री मिली है उसका स्रोत है कवीर पंथ के धर्म ग्रन्थ। इन धर्म ग्रन्थों से प्राप्त सामग्री पर विचार करने से पहले यह आवश्यक है कि यह समझ लेना कि एक दिव्य, अप्रतिम आत्मविश्वासी क्षमतावान के संगी साथी भी होंगे, श्रोता वक्ता भी होगे और होंगे अनुगमन कर्त्ता । अब यह चाहे शिष्य हो या वंशज।

उपलब्ध कवीर पंथ से सम्वन्धित रचनाओं में कवीर पंथी सांप्रदायिक ग्रन्थों में कवीर क चार शिष्यों का उल्लेख मिलता है जो कवीर साहब की अनुज्ञा से उनके मत का प्रचार करन के लिये देश की चारों दिशाओं में गये थे। इन शिष्यों ने कवीर का संदेश हवा में तो दिया नही होगा, किसी भूमि भाग पर टिके होंगे, आवास रचना की होगी, संदेश प्रसारित करने की शली चुनी होगी. जीवन को विशिष्ट पद्धति में ढाला होगा और वस फिर इस क्रिया में ही ढल गए होगे मठ और आचरण सूत्र, जीवन दर्शन और जीवन पद्धति। यदि इस वात को समझ ले तो कवीर पंथ के उद्भव और विकास की कथा वोध गम्य हो जाती है कि कवीर पंथ **जन शक्ति, जन श्रुति** और **जन सहमति** पर ही टिका है। कवीर का इस दिशा में योगदान शून्य हो कर भी उनके नाम के कारण सर्व हो गया है। अव यदि कवीर पंथ के जन्म और विस्तार स भिज्ञ होना है तो जनशक्ति, जनश्रुति और जनसहमति का आश्रय ले कर वढ़ना है, न अन्तः साक्ष्य सुलभ है न ऐतिहासिक दस्तावेज। पंथ का साहित्य ही दस्तावेज है।

ऐसा वर्णन मिलता है कि कवीर ने अपने चार प्रमुख शिष्यों को चारों दिशाओ में भेजा था, इनके नाम है धर्मदास. चत्रभुज, सहते जी तथा वंके जी। नाम तो चार प्रकाश में आए किन्तु कृतित्व के आधार पर केवल एक 'धर्मदास' ही पंथीय साहित्य में वर्णित हुए। धर्मदास के सम्वन्ध में तो यहाँ तक कहा जाता है कि वह सच्चे अर्थों में कवीर के अनुयायी थे ओर सदा उनके साथ रहते थे, कवीर की वानियाँ को उनके साथ भ्रमण करते समय सग्रहित करते जाते थे। कवीर पंथीय साहित्य में तो यहाँ तक लिखा है कि धर्मदास ने मध्यप्रदेश में कवीर पथ की धर्म दासी शाखा का प्रवर्तन किया है। यह धर्मदासी शाखा आज भी अपने विविध रूप अर्थात् शाखाओं प्रशाखाओं में अस्तित्ववान है। श्री परमानन्द साहब द्वारा लिखित ''कवीर मन्शूर'' में ऐसा निरूपित हुआ है कि स्वयं कवीर साहब ने अपने प्रिय शिष्य धर्मदास से अपने वारह पंथों की चर्चा की थी जिनके नाम भी गिनाये थे, जिनमें नारायणदास, भागोदास, सुरतगोपाल, गरीव दास, साहवदास आदि आते हैं। इसी विचार को संत तुलसी साहव ने भी अपने ग्रन्थ 'घटरामायण' में लिखा है। यह रचनाएँ कब लिखी गई इसका कोई प्रामाणिक उल्लेख नहीं मिलता। समकालीनता संदिग्ध है क्योंकि इनमें धर्मदास का कहीं नाम नहीं मिलता।

कवीर के अपने मौलिक अभिमत के साथ पंथीय विसंगति तो स्पष्ट है ही, पंथ सम्वन्धी प्रमाण भी संदेहास्पद हैं किन्तु पंथ के नाम पर प्राप्त ग्रंथों की अवहेलना भी तो नहीं की जा सकती कवीर पथ में अनुराग सागर नाम का एक ग्रथ वहुत प्रचलित ह निश्चित

तो नही पर अनुमान से इसका रचना काल अटठारहवी शताव्दी के आस पास ठहरता है 'अनुराग सागर'' ग्रंथ में बारह कवीर पंथ प्रचलित बताए गए हैं। यह बारह पंथ, उत्तर प्रदश, मध्य प्रदेश, उडीसा, गुजरात, काठियावाड़, बड़ौदा, बिहार आदि तक में कबीर की दिव्यता का उपाख्यान करने वाले अपने मठ, पीठ, गद्दी आदि का विस्तार कर चुके हैं। इन मठा के संस्थापक, संचालक, समर्थक, साधक विभूतियाँ भी हैं जो भले ही कबीर के जीवन दर्शन से न जुड़े हों पर नाम से प्रत्यक्षतः जुड़े हुए हैं। न्यूनाधिक अन्तर के साथ उपरोक्त सभी पथ कहीं न कहीं, किसी न किसी रूप में वर्तमान हैं और अपने कबीर पंथी सम्प्रदाय के सवर्द्धन में व्यस्त हैं। इन पंथों में विशिष्ट भूमिका में प्रसिद्धि प्राप्त है कबीर पंथी तीन शाखाएँ जिनमें प्रथम है 'काशी शाखा' द्वितीय है 'छत्तीस गढी शाखा' और तृतीय है 'धनौती शाखा'। प्रचलित मान्यतानुसार कवीर के प्रिय शिष्य सुरत गोपाल ने 'काशी शाखा' की स्थापना की थी। यह मान्यता जनउक्ति और जनश्रुति पर ही आधारित प्रतीत होती है क्योंकि सुरतगोपाल का नाम न तो मठ में उपलब्ध शिष्य परम्परा की सूची में ही मिलता है और न तत्कालीन किसी साहित्यिक कृति में ही उनका जीवन परिचय मिलता है और न कालान्तर मे लिखी गई पंथीय रचना में ही सुरतगोपाल वृत्त उपलव्ध हैं। मान्यता में मानना ही प्रधान होता हे, संस्थापक थे अतः सुची वद्ध न होने पर भी उनके संस्थापकत्व को मान लेने में कोई हानि नही है। जव ''जप माला छापा तिलक के विरोधी, पाथर पूजने और मस्जिद चिणाने'' के विरोधी परम्परा और परिपाटी के विरोधी, विद्रोही क्रान्तिदर्शी, जन नायक कबीर के नाम पर कवीर पंथ को मान ले रहे हैं तो फिर कुछ भी मान लेने पर हिचकना व्यर्थ है। संस्थापक कोई भी हो काशी का 'कवीर चोरा मठ' कवीर पंथ में अपना विशिष्ट महत्व रखता है। कवीर का जन्म स्थान होने के कारण यों भी काशी कबीर पंथियों के विशेष आकर्षण का केन्द्र है। दिव्य तज और प्रभुसत्ता से सम्पन्न सद्गुरू कवीर की कर्मभूमि काशी ही है, यहाँ से ही कबीर ने वैश्विक धर्म मानवतावाद का शंखनाद किया था। काशी मठ के अन्तर्गत कबीर से सम्बन्धित लहर तारा मठ तथा मगहर मठ को भी समाहित किया गया है यहाँ तक कि गया स्थित कवीर बाग मठ और उड़ीसा के भी कतिपय मठ इसी कबीर चौरा स्थित कबीर मठ से सम्बद्ध चल रहे हैं। काशी के कवीर मठ की गद्दी ही इन समस्त मठों की पूज्य है और लगभग सभी काशी मठ के महन्त के वर्चस्व को स्वीकार करते हैं और उनके ही अनुशासन में औपचारिकताओं का निर्वाह करते हैं। ''सुना और जाना'' के आधार पर कहा जा सकता है कबीर की मूल गद्दी यही है।

कवीर पंथ की दूसरी प्रधान शाखा छत्तीसगढ़ी शाखा है। कबीर के अत्यन्त निकट रहने वाले शिष्य धर्मदास के द्वारा स्थापित होने के कारण इसे धर्मदासी शाखा की संज्ञा मिली है। धर्मदास का शिष्यत्व भी जनश्रुति पर ही आधारित है। अन्तः साक्ष्य और प्रमाणों के अभाव में उसके जीवन के सम्वन्ध में कुछ भी कह सकना कठिन है। किंवदन्ति है कि धर्मदास कबीर के साथ भ्रमण करने वाले उनके मित्र और उनके शिष्य थे। किन्तु सन्त दरिया साहब जो सन्त मतावलम्बी और कवीर को अपना आदर्श मानने वाले थे उनके द्वारा एक दूसरे ही सत्य का उद्‌घाटन हुआ है। दरिया साहव ने लगभग बीस ग्रंथ लिखे हैं, वह संस्कृत, फारसी, हिन्दी तथा अन्य भाषाओं के विद्वान थे। उनके जन्म के सम्वन्ध में भी मतान्तर है। दरिया पथी

इनका जन्म सन् १६३४ ई० में मानते हैं, दरिया सागर के सम्पादक सन् १६७४ ई० तथा धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी अपने विश्लेषित अध्ययन के वाद सन् १७३४ ई० को जन्म समय के रूप में निरूपित करते हैं। दरिया साहब ने अपने ग्रंथ ''ज्ञान दीपक'' में उल्लेख किया है कि धर्मदास के रूप में लगभग दो सौ वर्ष बाद कबीर साहव ने ही अवतार लिया और कबीर पथ का आरम्भ किया। ''दरिया नामा'' और ''दरिया सागर'' में दरिया साहव ने यह भी आभास दिया है कि वह स्वयं ही कबीर का अवतार हैं, उनकी कृति ''ज्ञानदीप'' सन्त मत का ही आख्यान है। धर्मदास के अस्तित्व की प्रमाणिक अभिपुष्टि सत दरिया साहव द्वारा ही हुई है। अव प्रश्न है ''धर्मदासी शाखा'' का। छत्तीस गढ़ी शाखा के नाम से विख्यात इस के दो प्रमुख स्थान हैं। एक 'धाम खेड़ा' के नाम से विख्यात है दूसरा 'खरसिया' के नाम से जाना जाता है। लोगों का तो यहाँ तक कहना है कि कवीर मठ के लगभग सभी प्रमुख मठ काशी का कवीर चौरा मठ, हट केसर मठ (जगदीश पुरी), कबीर निर्णय मन्दिर बुरहानपुर (मठ), फतहा मठ (पटना) आदि सभी एक समय छत्तीम गढ़ी शाखा से ही सम्बद्ध थे। इस का उल्लेख डा परशुराम चतुर्वेदी और डा. केदार नाथ दूबे ने अपनी कृतियों में कवीर पंथ के अन्तर्गत किया है। कवीर पंथ की तीसरी प्रमुख शाखा घनौती शाखा के नाम से प्रसिद्ध है इसके संस्थापक क रूप में भगवान गोसाईं का नाम लिया जाता है। यह शाखा विहार में है। धर्मदास की भाँति इनके सम्बन्ध में भी जनमत है कि भगवान गोसाईं कवीर साहव के साथ यात्राएँ किया करते थे और कवीर के मुख से सुन कर उनकी वानियों को एक स्थान पर सुव्यवस्थित कर दिया करते थे, जो कालान्तर में वीजक रूप में सम्मुख आई। कवीर पंथ पर शोध करने वाल शोधार्थियों ने चौथी शाखा का भी अस्तित्व में होना वताया है। किवदन्ति के अनुसार जग्दास नाम के संत को कवीर ने कटक में दीक्षा दी थी और फिर यह संत जग्दास बिछपुर (मुजफ्फरपुर) आए और वहीं कवीर मठ की स्थापना कर मृत्युपर्यन्त वहीं रहे। इस बिछपुर मठ की भी कई उपशाखाएँ बताई जाती हैं जिनमें प्रसिद्ध हैं वनकठा, मुंगेर, नेपाल आदि के कवीर मठ। वनकठा तो काशी के शिवपुर में ही स्थित हे। स्पष्ट है कि कवीर पंथ की अनेक शाखाएँ पूरे देश में किसी न किसी रूप में वर्तमान हैं किन्तु उपरोक्त वर्णित शाखाओं मे वशस्थ शाखा कोई भी नहीं है। ''बूड़ा वंश कवीर का'' साखी के संदर्भ में पुत्र कमाल द्वारा किसी आध्यात्मिक कृत्य किए जाने की कोई संभावना प्रतीत नही होती किन्तु जन व्यापी मान्यता के अनुसार कवीर की पुत्री कमाली मठ स्थापना की दिशा में अग्रसर हुई थीं कमाली के नाम पर ''कवीर वंशी पंथ'' मेरठ और लुधियाना में मिलता है। इसके अतिरिक्त कवीर क शिष्यों के नाम पर प्रचलित अन्य अनेक पंथों का भी विवरण मिलता है। कवीर पंथ की गद्दी और मठ से परे समाधियों का भी पंथीय महत्व कम नहीं है। कितनी ही समाधियाँ ऐसी हैं जिनका लिखित साक्ष्य नहीं है फिर भी पूजित साक्ष्य है जो लोकपरम्परा में परिव्याप्त है। उडीसा में वर्तमान सुरतगोपाल, धर्मदास, ज्ञानदास और स्वयं कवीर की समाधि कवीर पंथिया का महान पूजा स्थल है।

कवीर पंथ समय के साथ अपने मूल रूप से भिन्न होता गया। जीव-जगत और ब्रह्म तथा सृष्टि एवं साधना पद्धति सम्वन्धी कवीर के अपने चिन्तन और दर्शन को ''अनुराग सागर' तक तो यथा तथ्य परक गति मिली किन्तु शनैः शनैः अन्य धर्म दर्शनों का प्रभाव कवीर पथ

पर ध्यान लगा जिस कर्मकाण्ड का कबीर ने दृढ़ता से विरोध किया वही कर्मकाण्ड वेष बदल कर कबीर पंथ में प्रविष्ट हो गया। पूजा पद्धति ढल गई और कबीर को "सत्यपुरूष" की पदवी देकर भगवानत्व प्रदान कर दिया गया। हर युग में उनका उपस्थित रहना और सृष्टि रचना में योगदान देना, अलौकिक कार्यों को सम्पादित करना आदि को कबीर पंथीय साहित्य में स्थान मिला। कबीर साहब विशेष विचारधारा के प्रस्तोता न हो कर सृष्टि के नियामकों की समकक्षता में आ गये। मनोविज्ञान के परिप्रेक्ष्य में देखें तो युगपुरूष से सत्यपुरूष बन जाना अस्वाभाविक भी नहीं है। उपास्य की उपासना तो होगी ही, कबीर पंथ के प्रमुख हैं कबीर, ज्ञान के प्रकाश में वह चैतन्य प्रबुद्ध जन नायकत्व की योग्यता से सम्पन्न युग पुरूष हैं, भक्ति उन्हें सत्यपुरूष बना कर राम और कृष्ण की समकक्षता देती है। अब यदि उपासक अपनी आस्था को व्यक्त करता है तो उपासना का जन्म चौंकाने वाला नहीं है फिर भी कबीर के क्रान्तिदर्शी व्यक्तित्व और विचारधारा को मोड़ देने वाली उद्‌भावनाओं के सन्दर्भ में कई कबीर पंथी शाखाओं में व्याप्त अभिचारिक क्रियाओं को देख कर चौंकना पड़ता है। उदाहरण के लिये छत्तीस गढ़ी शाखा के कर्मकाण्ड विचारणीय हैं। प्रचलित धार्मिक परम्पराओं और साम्प्रदायिक व्यवस्था के अतिरिक्त तन्त्र का प्रभाव भी दृष्टि गोचर होता है। साहित्य कोष के अनुसार "इस छत्तीस गढ़ी शाखा की 'चौका विधि' जोत प्रसाद, परधाना आदि सम्बन्धी कृत्यों का विधान इस प्रकार किया जाता है जिससे कबीर साहब के मूलभूत का कोई लगाव नहीं है। आटे के चूर्ण द्वारा विशिष्ट रेखाओं का अंकन, फूलपत्ती, नारियल पान कलश जैसी वस्तुओं का उपयोग प्रसाद वितरण तथा महन्तादि द्वारा नियम विशेष द्वारा परम्परागत विधियों का पूरा करना आदि हैं। छत्तीस गढ़ी शाखा में मिलने वाली कर्म काण्ड की यह व्यवस्था पारिवेशिक प्रभाव है। सन्त मत सन्तों की सहज अनुभूति की अभिव्यक्ति है। इस मत का विकास हुआ है संरचना नहीं अतः विकास यात्रा में आने वाले पड़ाव अप्रत्यक्ष और अचेतन रूप से यदि अपना वैचारिक अथवा सैद्धान्तिक प्रभाव छोड दे तो कुछ आश्चर्य नहीं। सन्त मत के मुख्य चिन्तक या संत हैं कबीर। साहित्य के इतिहासकार कबीर साहब से साहित्यिक सन्त मत का आरम्भ मानते है। स्पष्टतः कबीर का अभिमत ही सन्त साहित्य की सैद्धान्तिक आधार भूमि है। बाह्याडम्बरों के प्रखर विरोधी कबीर यदि कबीर पंथी शाखाओं प्रशाखाओं में कर्मकाण्ड के घेरे में बद्ध कर दिये गए तो इसे सामयिक प्रभाव से अधिक कुछ नहीं मानना चाहिये। प्रतिष्ठित आलोचक, आचार्य राम चन्द्र शुक्ल तो कबीर को 'मधुकरी प्रवृत्ति' का जीव कह कर उस समय प्रचलित लगभग सभी धर्म धाराओं का प्रभाव कबीर पर दर्शाते हैं। प्रभाव मात्र प्रभाव होते हैं व्यक्ति का मूल चरित्र नहीं। कबीर की मौलिकता और उन पर पड़ने वाले प्रभावों की विवेचना पुस्तक के आरम्भिक अध्यायों में की जा चुकी है। "आँखिन देखी" कहने वाले कबीर कागद लेखी के जाल में कहीं नहीं उलझे। पात्र और परिस्थिति के अनुसार मानववाद की स्थापना के लिये जन जन के कल्याण के लिये जो भाया सो कह दिया। अब कबीर की इन निम्न साखियों के आधार पर -

मन मथुरा दिल द्वारिका काया कासी जानि।
दसवां द्वारा देहुरा तामैं जोति पिछान। या फिर -